ओ३म्

धर्म दर्पण

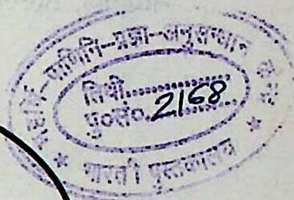
लेखक

पं० सत्यपाल मधुर

सुश्री आचार्या मेधा देवी जी को सप्रेम भेंट।
सत्यपाल मधुर
दि० 1-3-08

पंचम पुष्प

ओ३म्



धर्म दर्पण

लेखक

पं० सत्यपाल "मधुर", *धर्माचार्य*

आर्य समाज पंजाबी बाग (पश्चिमी), नई दिल्ली - 110026

दूरभाष : ~~25933729~~

निवास :

वेद सदन

B-11, कुँवर सिंह नगर, नाँगलोई, दिल्ली-110041

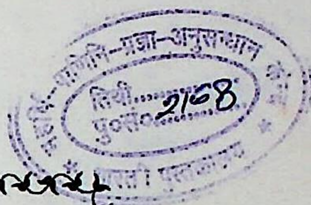
दूरभाष ~~25944216~~

प्रकाशक :
सुशीला प्रकाशन
''वेद सदन''
B-11, कुँवर सिंह नगर
नाँगलोई, दिल्ली-110041

मूल्य : 25/-

संस्करण	:	प्रथम
विक्रम सम्वत्	:	2060
प्रतियां	:	1100
सन्	:	अगस्त 2003
मुद्रक	:	जोगिन्द्र सैन एन्ड ब्रादर्स नई दिल्ली-110028

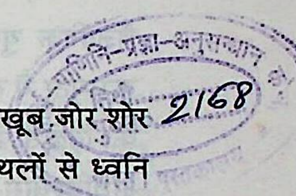




समर्पण

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द तथा आर्य समाज से प्रेरणा लेकर संसार से अविद्या व अंधकार को दूर करने तथा सच्चे वैदिक धर्म का प्रचार प्रसार करने में जिन्होंने अपना सर्वस्व देश, जाति, धर्म–हित में समर्पित कर दिया, उन सभी जाने–अनजाने वीर शहीदों की स्मृति एवं जीवित सच्चे वैदिक धर्म के दीवानों की सेवा में यह पुस्तक सादर समर्पित है।

"सत्यपाल मधुर"



प्राक्कथन

विगत 40–50 वर्षों से हमारे देश में धर्म का प्रचार खूब ज़ोर शोर से हो रहा है। मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों आदि धार्मिक स्थलों से ध्वनि विस्तारक यंत्रों द्वारा ईश्वर–भक्ति, पूजा–पाठ तथा धर्म–कर्म का प्रचार प्रसार बढ़ रहा है। नित्य नये–2 धर्माचार्य–दूरदर्शन के विभिन्न चैनलों पर प्रातःकाल आकर्षक भाव–भंगिमा के साथ प्रवचन देते हुए दिखाई देते हैं। धार्मिक फिल्मों व नाटकों के माध्यम से भी भक्ति तथा धर्म का प्रचार किया गया है।

इतना सब कुछ होते हुए भी मानव समाज में घृणा, द्वेष, असंतोष, हिंसा, बलात्कार, चोरी, डकैती तथा भ्रष्यचार पनप रहा है। साम्प्रदायिक दंगों की आग में मानवता तड़प रही है। मानव मानव का शत्रु बन रहा है। धर्म का परिणाम तो सुख, शान्ति होना चाहिये था, किन्तु आज मानव के मन में अशान्ति व बैचेनी बढ़ती जा रही है। देश की वर्तमान दशा पर किसी शायर ने ठीक ही लिखा है–

"वतन की जो हालत बताने लगेंगे
पत्थर भी आँसू बहाने लगेंगे
कहीं भीड़ में खो गई आदमियत है
जिसे ढूंढने में ज़माने लगेंगे"

प्रश्न उत्पन्न होता है कि मानव समाज में पनप रहीं बुराईयाँ क्या धर्म के कारण हैं अथवा इन बुराइयों का कारण कुछ और है? इस प्रश्न का उत्तर बहुत ही सरल है और वह यह है कि आज का मानव वास्तविक धर्म को नहीं समझ पा रहा। धर्म के नाम पर अनेक मत मतान्तर भोले–भाले लोगों को गुमराह करने में लगे हुए हैं। जिनके कारण मानव मज़हब के संकीर्ण दायरे में सिमट कर रह गया है। इस

वैज्ञानिक युग में मानव ने इन्टरनेट के माध्यम से सारे संसार को कम्प्यूटर में बन्द कर लिया है, किन्तु दिलों की दूरियाँ बढ़ रही हैं। धर्म का ढ़िढोरा पीटने वाले आज पैसा व प्रसिद्धि के लिये धर्म की आड़ में अंधविश्वास तथा पाखंड फैलाने में लगे हैं। इसी कारण लोग वास्तविक धर्म से दूर होते जा रहे हैं। किसी शायर ने लिखा है–

"देश को दुश्मनों से नहीं गद्दारों से खतरा है
खज़ाने को चोरों से नहीं पहरेदारों से खतरा है
धर्म रक्षा के लिये अब सावधानी की जरूरत है
नास्तिकों से नहीं धर्म के ठेकेदारों से खतरा है

धर्म दर्पण नामक इस पुस्तक में वेद शास्त्रों के आधार पर धर्म के वास्तविक स्वरूप को बताने का प्रयास किया गया है। अनेक स्थलों पर युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी के ग्रन्थों से प्रसंगानुकूल अंशों को ज्यों का त्यों उद्धृत किया गया है। इसमें मेरा अपना कुछ नहीं है। मैंने तो ऋषि प्रणीत ग्रन्थों से धर्म सम्बन्धी विचार रूपी सुमनों को लेकर माला में पिरोने का प्रयत्न किया है। अत: उन सभी ऋषियों को श्रद्धापूर्वक नमन करता हूँ।

इस पुस्तक के प्रकाशन में जिन सज्जनों ने किसी भी प्रकार का सहयोग दिया है, उन सबका मैं हृदय से आभार प्रकट करता हूँ।

अन्त में आर्य समाज पंजाबी बाग (पश्चिमी), नई दिल्ली के उप-मंत्री प्रिय भ्राता अशोक जी महतानी का धन्यवाद करता हूँ, जिनके कुशल प्रकाशन एवं परिश्रम से यह पुस्तक मुद्रित हो पाई है।

विदुषामनुचर : सत्यपाल मधुर

दो शब्द

पं० सत्यपाल जी मधुर द्वारा लिखी पुस्तक "धर्म दर्पण" की मूल प्रति आद्योपान्त पढ़ी। इस पुस्तक में जहां वेद, गीता, मनुस्मृति एवं अन्य वैदिक साहित्य के सन्दर्भानुकूल प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वहीं वैज्ञानिक और दार्शनिक लेखन शैली का भी प्रयोग किया गया है जिससे पुस्तक रोचक बनने के साथ-साथ सुगम व हृदयग्राही भी बन गई है। इस पुस्तक में धर्म के विभिन्न पहलुओं पर इतने सटीक ढंग से प्रकाश डाला गया है कि पाठक में उत्पन्न होने वाली धर्म सम्बन्धी शंकाओं का स्वत: ही निवारण हो जाता है।

मेरा ऐसा विश्वास है कि इस पुस्तक के पढ़ने से जन सामान्य तो लाभान्वित होगा ही, साथ ही साथ समाज की धर्मान्धता और साम्प्रदायिकता जैसी कुत्सित भावनाओं से भी मुक्ति मिलेगी, जिससे समाज में सौहार्दपूर्ण वातावरण बनेगा। आज के समाज में धर्म के नाम पर लोग एक दूसरे के खून के प्यासे बन गये हैं। कभी किसी स्थान पर धर्म के नाम से दंगा होता है तो कभी दूसरे स्थान पर एक दूसरे का खून बहाया जाता है। जबकि यथार्थ यह है कि इस तरह के दंगे भड़काने वाले लोग धर्म किसे कहते हैं? यही नहीं जानते। इस लिये लोगों को धर्म का यथार्थ अर्थ समझानेवाली पुस्तक लोगों को पढ़ाई जाये तो ऐसे विनाशकारी दंगे न भड़कें।

अत: ऐसी जनोपयोगी पुस्तक लिखने के लिये मैं पं० सत्यपाल मधुर जी को कोटिश: धन्यवाद देता हूं।

डा० ओमदत्त शर्मा
302, पंचशील गली नं० 1
गढ़ रोड़, मेरठ-250002

विषय सूची

धर्म की अनिवार्यता

मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये धर्म की अत्यन्त आवश्यकता है। जिस प्रकार गन्ध रहित पुष्प का, तेल बिन दीपक का, जल बिन नदी का, होना निरर्थक है, इसी प्रकार धर्म-रहित मानव का जीवन भी निरर्थक है। धर्म के बिना मानव समाज कभी भी सुखी तथा समुन्नत नहीं हो सकता। आज का मानव भौतिकता की चकाचौंध में फँस कर केवल अपने शरीर को सजाने सँवारने तक सीमित रह गया है। धर्म को उसने भुला दिया है। सुख की खोज में इधर-उधर भटकता फिरता है। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने कहा है-

सुखार्था सर्व भूतानां मता सर्वाः प्रवृत्तयः।
सुखं च न विना धर्मात् तस्माद्धर्म परोभवः।।

संसार के सभी प्राणी सुख की इच्छा से ही कर्म में प्रवृत्त होते हैं। पर यह निश्चित है कि बिना धर्म के सुख की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। अतः हे मनुष्य तू सुख की प्राप्ति के लिये निश्चित रूप से धर्म में प्रवृत्त हो।

महर्षि वेद व्यास जी कहते हैं-

ऊर्ध्व बाहुर्विरोम्येष न कश्चिच्छृणोति
माम्। धर्मादर्थश्च सधर्म किंन सेव्यते।।

मैं दोनों भुजाओं को उठाकर निश्चयपूर्वक घोषणा करता हूँ कि धर्म से अर्थ और काम की सिद्धि होती है। इस लिये संसार के पुरुषों! तुम धर्माचरण क्यों नहीं करते? धर्म से ही मानव में मानवता आती है। धर्म के बिना मनुष्य व पशु में कोई भेद नहीं रहता। संस्कृत के किसी कवि ने ठीक ही कहा है-

आहार निद्रा भय मैथुनञ्च,
सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।।

खाना, सोना, भयभीत होना और मैथुन करना, ये बातें मनुष्यों और पशुओं में समान रूप से पाई जाती हैं। धर्म का आचरण ही मनुष्यों को अन्य प्राणियों से विशेष सिद्ध करता है। जो मनुष्य धर्म का आचरण नहीं करते, उनमें और पशुओं में कोई भेद नहीं है।

धर्म ही मानव जीवन को ऊँचा उठाता है। धर्म ही मानव का सच्चा साथी है। महर्षि मनु कहते हैं–

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे,
नारी गृह द्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोक मार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः

मृत्यु के समय धन–दौलत सब भूमि में गड़ी रह जाती है। पत्नी गृहद्वार पर ही रह जाती है। दाह करने वाले बन्धु बान्धव श्मशान तक मृत शरीर के साथ जाते हैं। मृत देह भी चिता में भस्म हो जाता है। (इनमें से कोई भी साथ नहीं जाता) परलोक के मार्ग में तो जीवात्मा को अकेले ही जाना पड़ता है। केवल धर्म ही उसके साथ जाता है।

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोक सहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्

मनु॰ 4/238

परलोक में सहायता के लिये किसी भी प्राणी को पीड़ा न पहुँचाते हुए उसी प्रकार धीरे–धीरे धर्म का सञ्चय करे, जैसे दीमक अपनी बाँबी को धीरे–धीरे बनाती है।

महाभारत शान्ति पर्व में कहा है–

को हि जानाति कस्याद्य
मृत्युकालो भविष्यति।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं
खलु जीवितम्।।

महा॰भा॰शा॰ 165

कौन जानता है कि आज किसकी मृत्यु का समय उपस्थित होगा। अतः मनुष्य युवावस्था से ही धार्मिक बने, क्योंकि यह जीवन निश्चय ही अनित्य है।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतो वधीत्।।

मनु० 8/95

मारा हुआ धर्म मारने वाले को मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म अपने रक्षक की रक्षा करता है इस लिये धर्म का हनन नहीं करना चाहिये, ऐसा न हो कि हनन किया हुआ धर्म हमें नष्ट कर दे। प्रत्येक जीव की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि मैं दुःखों से छूट कर सुख प्राप्त करूँ, किन्तु देखा गया है कि कभी तो न चाहते हुए भी वह दुख भोगता है और कभी चाहने पर भी वह सुख प्राप्त नहीं कर पाता। इसका क्या कारण है? इसका उत्तर महर्षि दयानन्द इन शब्दों में देते हैं-"सब जीव स्वभाव से सुख-प्राप्ति की इच्छा और दुख का वियोगी होना चाहते हैं, परन्तु जब तक धर्म नहीं करते और पाप नहीं छोड़ते तब तक उनको सुख का मिलना और दुख का छूटना न होगा। क्योंकि जिसका कारण अर्थात् मूल होता है वह नष्ट कभी नहीं होता। जैसे - छिन्ने मूले वृक्षो नश्यति तथा पापे क्षीणे दुखं नश्यति। जैसे मूल कट जाने से वृक्ष नष्ट होता है वैसे पाप के छोड़ने से दुख नष्ट होता है।" (सत्यार्थ प्रकाश नवम् समुल्लास) स्पष्ट है कि दुखों से बचने के लिये पापों से बचना आवश्यक है। किन्तु प्रायः होता यह है कि लोग पाप के फल से तो बचना चाहते हैं किन्तु पाप कर्म से नहीं। इसके विपरीत लोग पुण्य के फल को तो चाहते हैं पर पुण्य करते नहीं।

धर्म का विकृत रूप

धर्म के बिना मानव जीवन पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकता, परन्तु मानव जब धर्म के विकृत रूप (बाह्याडम्बर) को अपना लेता है तो उसका जीवन ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा आदि नाना प्रकार की दुर्बलताओं से ग्रसित हो जाता है। अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने

अपनी आत्मकथा ''कल्याण मार्ग का पथिक'' में लिखा है – उनके पिता की बदली कोतवाल के रूप में मिर्जापुर में हो गई। मिर्जापुर में पहुँचते ही चैत्र के नवरात्र में विन्ध्यवासिनी देवी का मेला था। पिताजी का खेमा विन्ध्याचल पर जा लगा और मैं उनके साथ ही मेले का आनन्द लूटता रहा। उसी स्थान में पिताजी के अर्दली सार्जन्ट जोखू मिसिर की लीला देखी। देवी पर जो बकरे चढ़ते उनमें से सात की सिरियाँ मिसिर जी की पेट पूजा के लिये भेंट में आतीं। सात बकरों के सिर मुफ्त, कण्डों (उपलों) की आग मुफ्त, मिट्टी की हंडिया मुफ्त, नमक व हल्दी भी मुफ्त। हाँ पाव भर चून (आटा) मोल लेना पड़ता। जोखू मिसिर जितने लम्बे उतने ही चौड़े थे। सातों सिरियों का सफाया करके शेष थाली पाव भर चून की मिट्टी से पोंछ और कुल्ला करके पेट की तूँदड़ी पर हाथ फेर दिया करते थे। एक दिन हँडिया पकते-पकते पिताजी का नौकर चिमटे से चिलम में आग धर लाया। मिसिर जी आग बबूला हो गये और जब कारण पूछा गया तो बोले – अरे सरकार! हम अपना धर्म कबहुँ नाही छोड़ा, अरे। झूठ बुआला, जुआ खेला, गाँजा का दम लगावा, दारू चढ़ावा, रिश्वत लिहा, चोरी दगाबाजी किहा, कौन फन फरेब बाटे जौन हम नाही किहा, मुल सरकार! आपन धर्म कबहुँ नाही छोड़ा।''

अब देखिये इन्हें झूठ बोलने, जुआ खेलने, गाँजे का दम लगाने, दारू पीने, रिश्वत लेने, चोरी, दग़ाबाजी करने, बकरों के सिर पकाने में अधर्म नज़र नहीं आया, किन्तु चौके में किसी अन्य का प्रवेश करना ही धर्म भ्रष्ट होना मान लिया। किसी ने नदी में स्नान करना ही धर्म समझा। किसी ने माला के मनके घुमाना ही धर्म समझा। किसी ने मन्दिर में दो फूल चढ़ाकर ही अपना धर्म पूरा कर लिया। कुछ लोग पानी छान कर पीना ही धर्म समझते हैं, किन्तु गरीबों का खून पीने से परहेज़ नहीं करते। कुछ लोग नवरात्रों में अन्न न खाना धर्म समझते हैं, किन्तु लाखों रुपयों की रिश्वत खाने में संकोच नहीं करते। किसी ने बिस्तर उठाकर तीर्थों में घूमना ही धर्म समझा। किसी ने लम्बी चोटी व दाढ़ी रखना ही धर्म समझा। किसी ने तिलक, कंठी व माला धारण करना ही धर्म समझा। किसी ने भगवती जागरण कराना ही धर्म समझा।

आजकल प्रत्येक नगर के गली मुहल्लों में विशाल भगवती जागरण हो रहे हैं। इनमें पेशेवर गायक लोग ध्वनि विस्तारक यंत्रों पर गीतों को फिल्मी धुनों पर ऊँची आवाज में गाते रहते हैं। पड़ोस में चाहे कोई विद्यार्थी परीक्षा की तैयारी कर रहा हो अथवा कोई बीमार हो, इसकी इन्हें कोई चिन्ता नहीं। इनकी कान-फोड़ ध्वनि से आस-पास के निवासियों की रात भर की नींद गायब हो जाती है। कुछ भोले-भाले अंधविश्वासी नर-नारी इनके सामने बैठे हुए गीतों पर झूमते रहते हैं। अन्त में जागरण करने वाले ऐसी मनगढन्त कथा सुनाते हैं जिसका वेद शास्त्रों उपनिषदों दर्शनों आदि में कहीं उल्लेख नहीं है। कथा संक्षेप में इस प्रकार है-

एक बार तारा रानी की बहिन रुक्मिणी ने देवी के मन्दिर में हो रहे जागरण में दो पैसे देवी को भेंट कर के अरदास करवाई कि यदि मेरे पुत्र हुआ तो मैं भी जागरण करवाऊँगी। कुछ समय बाद उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ तो उसने जागरण करवाया, जिसमें देवी को माँस-मदिरा का भोग लगाया गया। वहाँ पहुँची हुई तारा ने भी इसे प्रसाद रूप में खाया तथा वही माँस-मदिरा प्रसाद अपनी झोली में लेकर घर को चल देती है परन्तु रास्ते में राजा ने जब झोली देखी तो माँस, मदिरा पान, सुपारी, बताशे, नारियल में बदल गये यह देख कर राजा भी चौंक गया और देवी का जागरण करवाने के लिये तैयार हो गया। राजा ने उस जागरण में अपने प्रिय घोड़े तथा पुत्र के टुकड़े-2 करवा कर बर्तन में डालकर पकवाये। पकने पर उन टुकड़ों से देवी माता को भोग लगाया गया तथा राजा को खिलाया गया। माँ को याद करने पर माता ने बेटे व घोड़े को जीवित कर दिया।

अब आप विचारिये यह कथा कितनी निराधार, तर्क शून्य तथा सृष्टि क्रम के विरुद्ध है क्योंकि यदि किसी प्राणी के टुकड़े कर दिये जावें तो उसे कोई भी जीवित नहीं कर सकता। इस कपोल कल्पित देवी की तो बात ही क्या। इन कपोल कल्पित कथाओं को भोले-भाले नर-नारी हाथ जोड़े सुनते रहते हैं। कोई कुछ नहीं कहता क्योंकि यह धर्म का मामला है। इन अनर्गल कथाओं को सुनकर कितने ही

अंधविश्वासी व्यक्तियों ने अनेक बालकों की हत्यायें कर डाली हैं। कुछ प्रमाण यहाँ प्रस्तुत हैं–

1. 2 अप्रैल 1962 को दीनानगर जिला गुरदासपुर (पंजाब) में प्रकाश चन्द नामक व्यक्ति ने देवी को प्रसन्न करने के लिये अपने साढ़े तीन वर्षीय पुत्र की निर्मम हत्या कर दी। कहा जाता है कि प्रकाश चन्द ने अपने पुत्र का सिर पकड़ा और उसकी बहन कौशल्या ने बालक की एक टाँग और दूसरी बहन माया ने दूसरी टाँग पकड़ी। बालक के चाचा परस राम ने दरांती से उसका गला काट दिया।

(सार्वदेशिक साप्ताहिक 3/4/72)

प्रकाश के अन्य दो पुत्रों को भी उसी समय बलि देने की योजना थी परन्तु उसी समय बड़ा पुत्र तो बाहर भाग गया तथा एक बीच वाले को साईंदास नामक व्यक्ति ने पुलिस में रिपोर्ट कराने के लिये जाते समय अपने साथ ले जाकर बचा लिया था। इस केस में श्री वेद प्रकाश शर्मा, सेशन जज ने बालक पृथ्वी के चाचा परसराम को मृत्युदण्ड तथा प्रकाश चन्द व दोनों बुआओं तथा भजन मंडली के चार सदस्यों धनीराम, बिशम्बर, अमर नाथ और प्रकाश को आजन्म कारावास दिया था। इन पंक्तियों का लेखक इस घटना के समय निकट ही किसी ग्राम में धर्म प्रचार कार्यरत था। प्रात: घटनास्थल पर आकर इसकी जानकारी ली थी।

2. बरेली से 48 मील दूर एक व्यक्ति ने देवी की अन्धभक्ति के कारण अपने परिवार के 6 सदस्यों की बलि चढ़ाई। तब उसी के पुत्र ने उसे मौत के घाट उतार दिया।

(दैनिक हिन्दुस्तान 6/4/1984)

3. कर्नाटक के हसन जिले के बनकरा गाँव में शनिवार को एक पैंतालीस वर्षीय व्यक्ति ने देवी चामुण्डेश्वरी को अपनी तीन पुत्रियों की बलि चढ़ा दी तथा पत्नी एवं पुत्र को गम्भीर रूप से घायल कर दिया। आज यहाँ प्राप्त समाचार के अनुसार कथित हत्यारे लच्छ नायक ने पहले एक मुर्गा काटा तथा शराब की बोतल सहित मुर्गे का माँस देवी को अर्पित किया। उसके बाद उसने पूजा की तथा अपनी पत्नी

ललितम्मा पर गंडासे से वार किया जिससे वह गम्भीर रूप से घायल हो गई। उसकी एक पुत्री अपनी माँ को बचाने भागी, जिसे उसने गंडासे से कत्ल कर दिया। उसके बाद उसने दो अन्य पुत्रियों की भी इसी तरह बलि दे दी। लच्छ नायक ने अपने दस वर्षीय पुत्र राज कुमार पर गंडासे से वार किया, जिससे वह जख्मी हो गया। लच्छ नायक फरार है। चीखें सुनकर एक पड़ौसी अन्दर आया, जिसने पाँच व्यक्तियों को खून से लथपथ पाया। सूचना मिलते ही पुलिस ने घायलों को अस्पताल पहुँचाया। ललितम्मा के सिर में गम्भीर चोट आई है। उसकी कुछ अँगुलियाँ कट गई हैं। राज कुमार का दाँया हाथ कट गया है।

(दैनिक पंजाब केसरी, दिल्ली 12 अप्रैल 1988)

4. जिला सुल्तान पुर की एक स्त्री ने काली देवी को प्रसन्न करने के लिये अपने पड़ौसी के छः वर्षीय बालक की हत्या कर दी।

(दैनिक प्रताप उर्दू 29/6/1963)

5. जबलपुर के रूपचन्द नामक व्यक्ति ने जुए में हार से बचने के लिए 18 मास के पुत्र के शरीर के टुकड़े-2 करके उसका रक्त शारदा देवी पर चढ़ाया।

(दैनिक वीर अर्जुन 8/4/1985)

इस प्रकार के अनेकों प्रमाण हैं, किन्तु विस्तार भय से उन सबको देना सम्भव नहीं है। आज के इस वर्तमान युग में जबकि शिक्षा का इतना प्रचार व प्रसार हो रहा है अनेक अंधविश्वासी लोग यह नहीं सोचते कि जो काल्पनिक देवी की जड़ मूर्ति अपने ऊपर से बैठी मक्खी तक नहीं उड़ा सकती, वह मरे हुओं को कैसे जीवित कर सकती है?

ये तथाकथित देवी के भक्त मनगढ़न्त अनर्गल कथाओं के द्वारा माँस खाने तथा मद्यपान करने का भी धार्मिक जनता में खुलेआम प्रचार कर रहे हैं। जिसका प्रसाद ही शराब व माँस हो उसके भक्त मांसादि भक्षण से कैसे बचे रह सकते हैं? इन्हें ईश्वर के स्वरूप और उसकी भक्ति के बारे में तनिक भी ज्ञान नहीं हैं। जब स्वयं ही ईश्वर के स्वरूप तथा उसकी भक्ति से अनभिज्ञ हैं तो अन्यों को क्या सिखायेंगे?

इनसे लोगों में अज्ञान, अन्धविश्वास तथा पाखन्ड का खूब प्रचार व प्रसार हो रहा है जो कि हिन्दु (आर्य) जाति के पतन का कारण है।

कितने ही तन, मन, धन गुरू के अर्पण करके उनके पैरों का मैल धोकर पीना तथा झूठा खाना ही मुक्ति (धर्म) का साधन समझते हैं। अपने स्तीत्व की रक्षा के लिये राजपूत क्षत्राणियों ने जौहर व्रत किया था। यह आपद् धर्म था। किन्तु नीच, स्वार्थी, पाखण्डी लोगों ने इसे शाश्वत धर्म का स्थान दिला दिया और सती प्रथा के नाम से महिमा मंडित किया। अस्पृश्यता का रोग इस हिन्दु (आर्य) जाति को ऐसा लगा कि अनेकों जाति के लाल हमसे अलग होकर विधर्मी बन गये। गौ, गीता, गायत्री, गंगा, श्री राम, श्री कृष्ण को मानने वाले मन्दिरों के बाहर खड़े मूर्ति के दर्शनों को तरसते रहे, किन्तु पुजारी उन्हें अछूत कह कर दुत्कारते रहे। कहीं हमारा पवित्र भगवान अपनी संतानों के स्पर्श से अपवित्र न हो जाये।

आजकल दूरदर्शन पर पौराणिक कथाओं के आधार पर धार्मिक फिल्मों की आड़ में खूब अश्लीलता का प्रसार किया जाता है जिन्हें देखकर युवक वर्ग दिग्भ्रमित हो रहा है। परन्तु कोई विरोध इस लिये नहीं करता क्योंकि यह भी धर्म है।

मेरे एक परिचित सज्जन हैं। उनके चार पुत्रियाँ हैं। उनमें से दो का विवाह हो चुका है। वे सज्जन अपनी अविवाहित पुत्रियों के हाथों से बना भोजन खाना अधर्म मानते हैं। उनकी पत्नी जब कभी किसी कार्यवश घर से बाहर जाती है तो भोजन बनाने के लिए विवाहित कन्या को बुलाना पड़ता है। इस प्रकार धर्म के नाम पर मानव समाज में न जाने कितनी विकृतियाँ आ गई हैं, जिन्हें देख कर बुद्धिजीवी वर्ग धर्म के नाम से घृणा करता है। परन्तु क्या वास्तव में धर्म यही है? आगे इसी सम्बन्ध में प्रकाश डाला जायेगा।

धर्म का वास्तविक स्वरूप

धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए सर्वप्रथम धर्म शब्द क़े अर्थ पर विचार करना होगा।

'धृञ् धारणे' इस धातु से धर्म शब्द सिद्ध होता है। जिसका अर्थ है धारण करना। इसी से यह स्पष्ट है कि धर्म धारण करने की वस्तु है। महाभारत में भी कहा गया है – ''धारणाद्धर्ममित्याहु' धर्म को धर्म इस लिये कहते हैं कि वह धारण किया जाता है। धारण करने योग्य गुणों का नाम ही धर्म है।

वैसे सृष्टि के सभी पदार्थों में उनका अपना एक विशिष्ट गुण धर्म छुपा हुआ होता है। जैसे अग्नि में दहकता, जल में शीतलता वायु में स्पर्शता तथा पृथ्वी में गन्ध आदि। यदि अग्नि से उसका गुण, धर्म, दाहकता निकल जाये तो वह राख मात्र रह जाती है। चींटी आदि क्षुद्र प्राणी भी उससे निर्भय होकर पार हो जाते हैं।

इसी प्रकार पशु-पक्षी, वृक्ष, वनस्पति औषधि आदि में भी उन के स्वाभाविक गुण-धर्म होते हैं। किन्तु मानव में यह बात लागू नहीं होती।

मनुष्य के अपने गुण धर्म स्वाभाविक रूप से जन्म से ही प्रकट नहीं होते, अपितु इन्हें प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना होता है। उसकी यह प्राप्ति परंपरागत ज्ञान से ही संभव है। यद्यपि प्रत्येक आत्मा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारवश कुछ विशिष्ट गुण लिये होती है पर उन गुणों का सुसंस्कार ज्ञान के माध्यम से ही संभव होता है। इसी लिये परम पिता परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जब सबसे पहले मनुष्य का निर्माण किया तब उसकी उन्नति के लिए ज्ञान भी प्रदान किया। जिन्हें वेद कहा जाता है इन्हीं ज्ञान के पुञ्ज वेदों में परम पिता परमात्मा ने अन्य विद्याओं के साथ-साथ मानवीय धर्म का भी बहुत सुन्दर उपदेश किया है। इसी लिये महर्षि मनु ने कहा है –

वेदोऽखिलो धर्म मूलम् (मनु॰ 2/6)

सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल (स्रोत) है।

धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः। (मनु॰ 2/13)

धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये वेद ही परम प्रमाण है।

आर्य समाज के संस्थापक युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने ग्रन्थ ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका के वेदोक्त धर्म विषय में वेद

मंत्रों के आधार पर बहुत ही सुन्दर मानवीय धर्म का प्रतिपादन किया है। उनमें से यहाँ केवल दो मन्त्र प्रस्तुत हैं-

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।

ऋ॰मं॰ 10 सू॰181 मन्त्र2

अब वेदों की रीति से धर्म के लक्षणों का वर्णन किया जाता है।

"**संगच्छध्वं** – हे मनुष्य लोगों! जो पक्षपात रहित, न्याय, सत्याचरण से युक्त धर्म है, तुम लोग उसी को ग्रहण करो, उससे विपरीत कभी मत चलो, किन्तु उसी की प्राप्ति के लिये विरोध को छोड़ के परस्पर सम्मति में रहो, जिससे तुम्हारा उत्तम सुख सब दिन बढ़ता जाय और किसी प्रकार का दुख न हो।

संवदध्वं – तुम लोग विरुद्धवाद को छोड़ के परस्पर अर्थात् आपस में प्रीति के साथ पढ़ना, पढ़ाना, प्रश्न उत्तर सहित संवाद करो, जिससे तुम्हारी सत्य विद्या नित्य बढ़ती रहे।

सं वो मनांसि ज्ञानताम् – तुम लोग अपने यथार्थ ज्ञान को नित्य बढ़ाते रहो, जिससे तुम्हारा मन प्रकाश युक्त होकर पुरुषार्थ को नित्य बढ़ावे जिससे तुम लोग ज्ञानी हो कर नित्य आनन्द में बने रहो और तुम लोगों को धर्म का ही सेवन करना चाहिये अधर्म का नहीं।

देवा भागं यथा पूर्वे॰ – जैसे पक्षपात रहित धर्मात्मा विद्वान लोग वेद रीति से सत्य धर्म का आचरण करते हैं, उसी प्रकार से तुम भी करो। क्योंकि धर्म का ज्ञान तीन प्रकार से होता है – एक तो धर्मात्मा विद्वानों की शिक्षा, दूसरा आत्मा की शुद्धि तथा सत्य को जानने की इच्छा तथा तीसरा परमेश्वर की कही वेद विद्या को जानने से ही मनुष्यों को सत्य असत्य का यथावत् बोध होता है अन्यथा नहीं।। 1 ।।

यह मंत्र ऋग्वेद के दशम मंडल के अन्तिम सूक्त का दूसरा मंत्र है। पृथ्वी से लेकर परमेश्वर पर्यन्त सभी पदार्थों का ज्ञान ऋग्वेद द्वारा प्राप्त होता है। प्रकृति क्या है? पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंच महाभूतों के गुण धर्म क्या हैं? जीव क्या है? जीवात्मा का लक्ष्य क्या है? इसके

लक्ष्य की पूर्ति कैसे हो सकती है। ईश्वर क्या है? उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? इत्यादि बातों का वर्णन ऋग्वेद में है।

इस मंत्र में यह बताया गया है कि मानव समाज सुखी कैसे रह सकता है। ईश्वर हमें उपदेश करता है कि हे मनुष्यों! तुम लोग मिल कर चलो। प्रेमपूर्वक आपस में बातें करो। विचारों का आदान-प्रदान करते हुए विद्वानों के सानिध्य में ज्ञान की प्राप्ति करो। तुम्हारे मन मिलकर सत्यासत्य का निर्णय करने के लिये सदा विचार करें। जैसे प्राचीन काल के विद्वान लोग परस्पर विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करके अपने-अपने भाग को प्राप्त करते आते हैं।

दृते दृँह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।।

यजु॰ अ॰ 36 म॰ 18

"इस मंत्र का अभिप्राय यह है कि मनुष्य लोग आपस में सब प्रकार के प्रेम भाव से सब दिन वर्तें। और सब मनुष्यों को उचित है कि जो वेदों में ईश्वरोक्त धर्म है, उसी को ग्रहण करें और वेद रीति से ही ईश्वर की उपासना करें कि जिससे मनुष्यों की धर्म में ही प्रवृत्ति हो।

(दृते॰) हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिये कि जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़ के एक दूसरे के साथ प्रेम भाव से वर्ते। (मित्रस्य मा॰) और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जानकर बन्धु के समान वर्ते। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को (दृँह) सत्य सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। (मित्रस्याहं॰) इसी प्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपना मित्र जानूँ और हानि, लाभ, सुख और दुख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूँ।

(मित्रस्य च॰) हम सब लोग आपस में मिलके सदा मित्र भाव रखें और सत्य धर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य हैं।"

यजुर्वेद का यह मंत्र वेद के उन अनेक मंत्रों में से हैं जिसमें मानव धर्म का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रतिपादन किया गया है। महर्षि ने वेद के माध्यम से दिये गये इस अनुपम उपदेश को बहुत ही उत्तमता से सार्वभौमिक धर्म के रूप में निरुपित किया है।

मंत्र के पहले भाग में प्रत्येक प्राणी की उस इच्छा को व्यक्त किया है कि संसार के सभी प्राणी मुझको मित्र की दृष्टि से देखें। प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा होती है कि कोई भी उसको कुपित, लोलुप, हिंसक दृष्टि से न देखे। दूसरों के नेत्रों में करुणा, मैत्री, प्रेम का सागर छलकता हो, यही सबकी कामना होती है। यहाँ तक कि जँगली हिंसक प्राणियों से भी मनुष्य यही अपेक्षा करता है कि वे मुझे कुछ न कहें। परन्तु यह कैसी विडम्बना है कि मनुष्य अपने प्रति तो सभी प्राणियों से स्नेहं, करुणा, मैत्री चाहता है परन्तु स्वयं अन्य प्राणियों के प्रति क्रूरता तथा हिंसा का बर्ताव करता है। अपने को सर्वश्रेष्ठ कहलाने वाला यह मनुष्य उन निरपराध मूक प्राणियों का अपनी रसना की तृप्ति के लिए वध करता है। कहीं धर्म के नाम पर उनकी बलि दी जाती है। प्रस्तुत वेद मंत्र के माध्यम से हमें यह शिक्षा दी गई है कि यदि हम अन्य प्राणियों से मैत्री, करुणा तथा प्यार पाना चाहते हैं तो हमें भी स्वयं दूसरे प्राणियों के प्रति ऐसा ही सौहार्दता का व्यवहार करना होगा। जिससे मैं अन्य प्राणियों के द्वारा मित्र की दृष्टि से देखा जा सकूँ। इसी प्रकार वेदों के अनेक मंत्रों में धर्म का स्वरूप बतलाया गया है। उपनिषदों में भी अनेक मंत्र ऐसे हैं जो धर्म के स्वरूप का स्पष्टतः प्रतिपादन करते हैं, परन्तु यहाँ उन सबको उद्धृत करना सम्भव नहीं। मनुस्मृति में महर्षि मनु महाराज ने धर्म के इस प्रकार दस लक्षण लिखे हैं–

धृतिः क्षमा दमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।

मनु॰ 6/92

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना ये दस लक्षण धर्म के हैं।

धृति–अर्थात् विपत्ति में भी धैर्य धारण करना। प्रतिकूल परिस्थिति में भी धर्म से कभी विचलित नहीं होना चाहिये। विपत्ति में ही मनुष्य के धैर्य की परीक्षा होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है–

धीरज धर्म मित्र अरु नारी
आपद् काल परखियहिं चारी

राज्याभिषेक के समय और वनवास के समय श्री राम की धीरता की प्रशंसा करते हुए गुरु वशिष्ठ जी कहते हैं–

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितरन्तस्य स्वल्पोप्याकार विभ्रमः।।

अर्थात् मैंने श्री राम के अभिषेक के समय बुलाये जाने पर तथा वनवास जाते समय किंचित भी अन्तर नहीं देखा। याद रखिये "विपत्ति में धैर्य ही हमारा सच्चा मित्र है।"

क्षमा – पूर्ण सामर्थ्य होने पर भी अपने प्रति किसी निर्बल से अपकार होने पर बदला न लेना क्षमा कहाती है। परन्तु यदि कोई सामर्थ्यवान निर्बल के प्रति अन्याय करता है तो उसे सहन करने का नाम क्षमा नहीं है। यह तो उसकी विवशता है। इसीलिये कहा है – "क्षमा वीरस्य भूषणम्" क्षमा वीरों का भूषण है, किन्तु निर्बलों का दूषण है। वीर रस के कवि दिनकर जी ने कहा है–

क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो
उसको क्या जो दन्तहीन विषहीन विनीत सरल हो
सहनशीलता क्षमा दया को तभी पूजता जग है
बल का दर्प चमकता उसके पीछे जब जगमग है

दम – मन की चंचल वृत्तियों को अधर्म से रोक कर धर्म मार्ग में चलाने का नाम ही दम है। यह मन बड़ा चंचल है। संसार के नाना प्रकार के प्रलोभनों में फँस कर यह व्यक्ति को कर्त्तव्य पथ से विमुख कर देता है। परन्तु याद रखना चाहिये कि यह मन जड़ है, और मैं (आत्मा) चेतन हूँ। मुझे इसे अपने आधीन रखना है, न कि मैं इसके आधीन हो जाऊँ। जिसने मन जीत लिया उसने जग जीत लिया। मन

को नियन्त्रित करके ही व्यक्ति प्रत्येक कार्य क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है। बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। स्व॰ कवि रत्न प्रकाश जी ने लिखा है –

मन सा न जग में प्रकाश कोई सच्चा मित्र
मन सा न और कोई शत्रु हुड़दंगा है
मन से ही शाँति गीत, मन से ही प्रीति रीति
मन से ही कलह, कपट, द्वेष, दंगा है।
मन ही मिलाता ईश मन ही दिलाता मुक्ति
मन ही तो डालता सुकर्म में अडंगा है
मन है मरीज तो लज़ीज़ कोई चीज़ नहीं
मन यदि चंगा तो कठौती में ही गंगा है

अस्तेय – अस्तेय का अर्थ है चोरी का त्याग। बिना मालिक की आज्ञा के किसी वस्तु को उठा लेना, छल–कपट, विश्वासघात या अन्य उपायों से किसी के धनादि पदार्थ को हड़पना स्तेय है और इसे छोड़ देना अस्तेय कहलाता है। यदि व्यक्ति को धार्मिक बनना है तो उसे अस्तेय भाव को जीवन में लाना होगा। वेद का आदेश है "मा गृध कस्य स्विद्धनम्" किसी के धन का लालच मत करो। आज का व्यक्ति शीघ्र धनवान बनने की लालसा में येन केन प्रकारेण धन बटोरने में लगा रहता है। याद रखिये अन्यायोपार्जित धन अनर्थ का कारण बन जाता है। अपने परिश्रमपूर्वक न्याय से उपार्जित किया धन ही टिकाऊ तथा सुखशान्तिकारक होता है।

शौच – शारीरिक और मानसिक यह दो प्रकार का शौच कहाता है। वस्त्र प्रक्षालन तथा स्नानादि से शरीर को शुद्ध रखना शारीरिक शौच है तथा राग, द्वेष, पक्षपात आदि दुष्प्रवृत्तियों को मन में न आने देना, यह मानसिक शौच कहलाता है। धर्माचरण में बाहर और अन्दर की पवित्रता रखनी अत्यन्त आवश्यक है।

महर्षि मनु ने शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा को पवित्र रखने का उपाय इस प्रकार बतलाया है–

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्या तपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।।

(मनु॰ 5/109)

शरीर की शुद्धि जल से, मन की शुद्धि सत्य से, आत्मा की शुद्धि विद्या और तप से तथा बुद्धि की शुद्धि ज्ञान से होती है।

धर्म मार्ग में अग्रसर होने के लिये अर्थ की शुचिता का ध्यान रखना भी आवश्यक है। अर्थ शुचिता के बिना जीवन में धार्मिकता नहीं आ सकती।

इन्द्रिय निग्रह – इन्द्रियों को अधर्माचरण से रोककर धर्म मार्ग में ही चलाना। अर्थात् शब्द स्पर्श रूप रस गन्ध आदि विषियों में इन्द्रियों को मर्यादानुकूल ही चलने देना इन्द्रिय निग्रह कहाता है। इस विषय में मनु महाराज कहते हैं–

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा
घ्रात्वा च यो नरः। न हृष्यति ग्लायति वा,
स विज्ञेयो जितेन्द्रियः।।

(मनु॰ 2/98)

जो मनुष्य सुनकर, स्पर्श करके, देखकर, खाकर और सूँघ कर न तो प्रसन्न होता है और न ही अप्रसन्न होता है उसे ही जितेन्द्रिय जानना चाहिये।

याद रखिये विष को खाने से मनुष्य मरता है, किन्तु विषियों के स्मरण मात्र से ही मानव का विनाश हो जाता है।

धी – बुद्धि। सब कार्य बुद्धिपूर्वक सोच समझ कर करने चाहिये और इस प्रकार का प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे बुद्धि का विकास हो। बुद्धिनाशक मादक पदार्थों का त्याग, सात्विक, बुद्धिवर्धक पदार्थों का सेवन, सतपुरुषों का संग, स्वाध्याय, योगाभ्यास आदि से श्रेष्ठ बुद्धि का विकास होता है। बुद्धिहीन व्यक्ति धर्माधर्म उचितानुचित का ज्ञान नहीं कर सकता। संस्कृत के किसी कवि ने कहा है–

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञ, शास्त्रं तस्य करोति किम्।
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति।।

जिसकी स्वयं बुद्धि नहीं है, उसका शास्त्र कोई उपकार नहीं कर सकता (जैसे कि) नेत्रों से विहीन व्यक्ति का दर्पण क्या उपकार कर सकेगा?

विद्या –

अनित्याशुचि दुःखानात्मसु नित्य शुचि सुखात्म ख्यातिरविद्या।।

योग दर्शन 2/5

जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य, अर्थात् जो कार्य जगत देखा सुना जाता है, सदा रहेगा सदा से है और योग बल से यही देवों का शरीर सदा रहता है वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अशुचि अर्थात् मलमय स्त्रयादि के और मिथ्या भाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्र बुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषय सेवन रूप दुःख में सुख बुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्म बुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है। यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है। इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख, अनात्मा में अनात्मा, आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है। अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध होवे वह विद्या है।

(सत्यार्थ प्रकाश नवम समुल्लास)

सोना, चाँदी, रुपया, पैसा आदि सांसारिक धन तो आता जाता रहता है। आज एक के पास है कल दूसरे के पास चला जाता है किन्तु विद्या का धन कभी नष्ट नहीं होता। विद्या को जितना व्यय करते हैं उतनी ही बढ़ती चली जाती है। विद्या से ही मनुष्य महान बनता है। विद्वानों की सभा में उसका सम्मान होता है। विद्वान कहीं भी चला जाये सर्वत्र उसकी पूजा होती है। विद्या से ही मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति करता है। (विद्ययाऽमृतमश्नुते यजु० 40/14)

सत्य – मन, वचन, कर्म से एक होना ही सत्य कहाता है। इस

सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी महाराज अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं – जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही कहना लिखना और मानना सत्य कहाता है।

"सत्य भाषण और आचरण से उत्तम धर्म का लक्षण कोई भी नहीं है क्योंकि सतपुरुषों में भी सत्य ही सत्पुरुषपन है। सत्य से ही मनुष्यों को व्यवहार और मुक्ति का उत्तम सुख मिलता है। जिससे छूट के वे दु:ख में कभी नहीं गिरते। इस लिये सब मनुष्यों को सत्य में ही रमण करना चाहिये"

(ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका)

महाभारत में लिखा है – 'नास्ति सत्यात्परो धर्मः' (शान्ति पर्व 162–24) सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं। ऋग्वेद (10–85–1) में आया है "सत्येनोत्तभिता भूमि" अर्थात् यह भूमि सत्य के सहारे टिकी हुई है। प्राचीन काल में ब्रह्मचारी जब गुरुकुल से शिक्षा समाप्त करके कार्यक्षेत्र में पदार्पण करता था तो उसे सबसे प्रथम आचार्य "सत्यं वद" सच बोलो – यह उपदेश देता था। आर्य समाज का यह चौथा नियम तो सारा सत्य के ऊपर ही है – सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिये।

अक्रोध – क्रोध न करना। क्रोध में मनुष्य विवेक खो बैठता है। मानसिक सन्तुलन स्थिर नहीं रह पाता। क्रोध के कारण मानव उत्तेजित हो जाता है, जिससे शरीर पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है। क्रोधी मनुष्य धर्माचरण नहीं कर सकता। कई कारणों से क्रोध उत्पन्न होता है। जब हम दूसरों की भावनाओं, विचारों को समझने का प्रयास नहीं करते बिना सोचे समझे उनकी आलोचना शुरू कर देते हैं तो दूसरा भी आवेश में आकर कटु वाणी का प्रयोग करता है। इससे क्रोध बढ़ता जाता है। यदि कोई आलोचक हमारी बुराई को उजागर कर रहा है तो उससे क्रोध करने के स्थान पर हमें अपनी बुराईयों को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। भक्त कबीर दास जी ने कहा है–

निन्दक नियरे राखिये आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी बिना निर्मल करे सुभाय।।

वाल्मीकि रामायण में आया है–

धन्या खलु महात्मानो, ये बुद्धया कोपमुत्थितम्।
निरून्धन्ति यतात्मानो दीप्तमग्निमिवाम्भसा।।

वाल्मी॰सु॰सर्ग 55 श्लो॰ 3

वे महान आत्मा वाले लोग धन्य हैं जो उत्पन्न हुए क्रोध को बुद्धि से वैसे ही शान्त कर देते हैं जैसे प्रज्ज्वलित अग्नि को जल से। ऐसे सज्जन ही अपने आपको वंश में रखने वाले होते हैं।

क्रोध मनुष्य पर अकेला नहीं आता, इसके साथ हिंसा, घृणा, घबराहट, मानसिक परेशानी, शारीरिक उत्तेजना आदि जो कि इसके परिवार के सदस्य हैं, साथ आते हैं। यह क्रोध रूपी अग्नि ऐसी है जो मानव को जलाकर भस्म कर देती है और अन्त में मानव पश्चाताप करता है। जैसा कि हितोपदेश में कहा है–

योऽर्थ तत्वमविज्ञाय क्रोधस्यैव वशं गतः।
स तथा तप्यते मूढ़ो, ब्राह्मणो नकुलाद् यथा।।

(हि॰स॰ 94)

जो वास्तविक अभिप्राय को न समझ कर एक मात्र क्रोध के वशीभूत हो जाता है, वह अन्त में उसी प्रकार पश्चाताप करता है जैसे उपकारी नेवले को मारने के बाद एक ब्राह्मण ने किया था। इस लिये ठीक ही कहा है–

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम् – अक्रोध से क्रोध को जीते।

यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ क्रोध मानव जीवन के लिये हानिकारक है वहाँ 'मन्यु' भी मनुष्य के अन्दर होना आवश्यक है। इसी लिये यजुर्वेद में प्रार्थना की गई है–

मन्युरसि मन्युं मयि धेहि (यजु॰ 19/9) ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में इस मंत्रांश का भाष्य करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं – हे दुष्टों पर क्रोध करने हारे! आप दुष्ट कामों और दुष्ट जीवों पर क्रोध का स्वभाव मुझ में भी रखिये।

मन्यु और क्रोध में अन्तर यह है कि मन्यु में हित अर्थात् सुधार की भावना होती है तथा क्रोध में हानि की भावना छुपी होती है। जैसे कुम्भकार घड़ा बनाते समय ऊपर से थपकी मारता है और अन्दर हाथ रखता है कि कहीं घड़ा टूट ही न जाये। इसी प्रकार माँ अपने बच्चे को कभी-कभी ताड़ना करती है परन्तु उस ताड़ना में ममता तथा सुधार अन्तर्निहित होता है अध्यापक विद्यालय में शिष्य को सुधार के लिये ही मन्यु (ताड़न) का प्रयोग करता है। परन्तु जब यह मन्यु क्रोध अथवा प्रतिशोध में परिणित हो जाता है तो परेशानियों का कारण बन जाता है।

धर्म के इन दस लक्षणों के अतिरिक्त भी मनुस्मृति तथा अन्य शास्त्रों में धर्म के लक्षणों का निरूपण किया गया है। यथा-

आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन्त्सदायुक्तो नित्य स्यादात्मवान् द्विजुः।।

मनु॰ 1/108

वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में बताये गये धर्म का आचरण करना ही परम धर्म है। इसलिये द्विज सदा धर्माचरण में प्रवृत्त रहे।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्

मनु॰ 2-12

जो वेदानुकूल है, वेदानुकूल स्मृतियों के अनुकूल है, सदाचारी धर्मात्माओं के आचरण के अनुकूल है और अपने को प्रिय लगने वाला व्यवहार है, वह धर्म है।

श्रूयतां धर्म सर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत्।।

धर्म का सार सुनो और सुनकर मन में धारण करो, जो व्यवहार तुम्हें अपने लिये अच्छा नहीं लगता, वह दूसरों के लिये भी कभी मत करो।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।

वैशेषिक अ॰ 1 पा॰ 1 सू॰ 2

जिससे इह लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के सुखों की प्राप्ति हो सके वह धर्म है। महर्षि कणाद जी ने वैशेषिक दर्शन में यह धर्म की कितनी सुन्दर व्याख्या की है। केवल साँसारिक सुखों की ही प्राप्ति नहीं अपितु मानव जीवन का जो चरम उद्देश्य मोक्ष है उसकी प्राप्ति भी करनी है। जो धर्म केवल संसार तक सीमित है वह भी अधूरा है तथा जो केवल परलोक के सरसब्ज़ बाग दिखाता है वह भी अधूरा है। युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी महाराज ने इस सत्य को समझा था। उन्होंने हमें सोचने समझने की एक दिशा दी और कहा कि संसार से भागो नहीं जागो। संसार के अन्दर अपने-अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हुए इहलौकिक और पारलौकिक सुख को प्राप्त करो।

छान्दोग्योपनिषद में धर्म के तीन आधार

पहला आधार

"त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः।

(द्रान्दोग्य उ० द्वि० प्र०)

धर्म के तीन आधार है। इनमें से यज्ञ, अध्ययन तथा दान यह प्रथम आधार है।

यज्ञ - धर्म पथ के पथिक को जीवन में यज्ञ को अपनाना चाहिये। जितने भी परोपकार के कार्य हैं वे सब यज्ञ के अन्तर्गत आ जाते हैं। आजकल यज्ञ शब्द साधारणतः हवन (अग्नि में द्रव्य विशेष की आहुति देने) के अर्थ में रुढ़ हो गया है। किन्तु 'यज्ञ' का बहुत विस्तृत अर्थ है। ईश्वर द्वारा रचित पंच-भौतिक सृष्टि के पदार्थों का यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनसे उपकार लेने का नाम यज्ञ है। चूंकि अग्निहोत्र से प्राणीमात्र को बहुत लाभ होता है। जल वायु की शुद्धि होकर निरोगता आती है तथा वातावरण सुगन्धित होता है। देव पूजा संगतिकरण और दानादि उद्देश्यों की पूर्ति यज्ञ के माध्यम से हो जाती है।

अध्ययन - ईश्वर प्रदत्त वेद अथवा वेदानुकूल सत्य शास्त्रों के अध्ययन से मानव को अपने ज्ञान में निरन्तर वृद्धि करनी चाहिये। आर्ष

ग्रन्थों के अध्ययन से निरन्तर बुद्धि का विकास तथा अज्ञानान्धकार का नाश होकर आत्मा में ज्ञान का प्रकाश होता है। संस्कृतज्ञ वेद वेदाङ्ग निष्णात विद्वान तो किसी भी ग्रन्थ का कहीं से भी अध्ययन कर सकते हैं, किन्तु जो वेद का अध्ययन नहीं कर सकते, उन्हें वेद के स्वाध्याय की योग्यता प्राप्त करने के लिये महर्षि दयानन्द के ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका आर्याभिविनय, सत्यार्थ प्रकाश, व्यवहार भानु ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिये। दर्शन उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, विदुर नीति आदि ग्रन्थों का भाषानुवादों के माध्यम से अध्ययन कर सकते हैं। इसीलिये तैत्तिरीयोपनिषद में शिक्षा समाप्ति पर आचार्य शिष्य को उपदेश देता है - स्वाध्यायान्मा प्रमदः। अर्थात् स्वाध्याय-वेदादि सत्यशास्त्रों के अध्ययन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

दान - मनुष्य को अपने उपार्जित धन में से कुछ न कुछ भाग असहाय पीड़ित निर्धन अथवा कूप, तालाब, धर्मशाला, अनाथालय, गुरुकुल आदि के लिये अवश्य निकालना चाहिये। देश, काल तथा पात्र का विवेक करके निस्वार्थ भावना से दिया गया दान ही श्रेष्ठ होता है। महाभारत में कहा है-

अक्रोधना धर्म पराः सत्यनित्या दमे रताः
तादृशाः साधवो विप्रास्तेभ्यो दत्तं महाफलम्।।

महाभा॰ अनु॰ 22, श्लो॰ 33

जो क्रोध न करने वाले, धर्म परायण, सदा सत्यव्यवहार करने वाले और अपने मन को वश में रखने में तल्लीन हैं, ऐसे सज्जन स्वभाव वाले ज्ञानियों को दिया गया दान महान फलदायक होता है। जिसके पास विद्या है वह विद्या का दान करे। शास्त्रों में विद्यादान को सब दानों में श्रेष्ठ बताया है। जैसा कि कहा है

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
वार्यन्न गो मही वासस्तिल काञ्चन सर्पिषाम्।।

(मनु॰ 4-233)

जल, भोजन, गौ, भूमि, वस्त्र, तिल, सोना और घृत आदि सभी दानों से बढ़ कर विद्या का दान है। अभिप्राय यह है कि जिसके पास

जिस प्रकार का धन है वह सब सामर्थ्यानुसार समाज तथा राष्ट्र की उन्नति के लिये कुछ भाग अवश्य निकाले। भोज प्रबन्ध में कहा है-

सङ्ग्रहैकपरः प्रायः समुद्रोऽपि रसातले।
दातारं जलदं पश्य, गर्जन्तं भुवनोपरि।।

(भोज० 65)

संग्रह मात्र में लगा हुआ सागर सदा रसातल में ही पड़ा रहता है। उधर सबको जल देने वाला दाता बादल को देखो जो कि संसार के ऊपर गर्जता रहता है।

दान से ही व्यक्ति को यश मिलता है। कृपण का कोई सम्मान नहीं करता। दान से ही स्वर्ग (सुख) मिलता है। दान के द्वारा मनुष्य शत्रुओं के हृदय में भी स्थान बना लेता है। दान से ही परम संतोष तथा आत्मिक आनन्द की प्राप्ति होती है।

दूसरा आधार

तप एव द्वितीयो।

तप ही धर्म का दूसरा आधार है। स्व कर्त्तव्य पालन में जो कठिनाइयाँ आती हैं, उनको सहन करने का नाम तप है। योग दर्शन में द्वन्द्वों को सहन करना ही तप कहा है। मान-अपमान, सुख-दुख, हानि-लाभ, सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि द्वन्दों को शान्तचित्त से सहन करते हुए अपने कर्त्तव्य पालन में लगे रहना तप कहलाता है।

श्रीमद्भगवद् गीता के सत्रहवें अध्याय में श्लोक 14 से 18 तक तप के कायिक, वाचिक तथा मानसिक - ये तीन भेद किये हैं। फिर कायिक, वाचिक, मानसिक के सत्व-रज-तम के आधार पर तीन भेद किये हैं, जिनका भाव इस प्रकार है-

''देवताओं, ब्राह्मणों, गुरुओं और विद्वानों की पूजा करना, पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसापूर्वक जीवन बिताना - यह सब शरीर का तप कहलाता है। ऐसे वाक्य बोलना जिनसे दूसरे लोग उद्विग्न न हो जायें, जो सत्य होने के साथ-साथ प्रिय हों, हितकारी हों; उत्तम ग्रन्थों

का स्वाध्याय करना और स्वाध्याय किये हुए का अभ्यास रखना - यह वाणी का तप कहलाता है। मन को प्रसन्न रखना, सौम्यता, मौन, आत्म-संयम और चित्त की शुद्ध भावना - यह सब मन का तप कहलाता है। इन तीनों प्रकार के तपों को यदि मनुष्य फल की इच्छा छोड़कर लगन और परम श्रद्धा के साथ करे तो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक तप) सात्विक कहलाते हैं। जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप सत्कार, मान एवं पूजा प्राप्त करने के लिये या दम्भ के लिये - पाखन्ड, दिखावे, प्रदर्शन के लिये-किये जाते हैं, वे राजस कहलाते हैं, वे देर तक चलते नहीं, अस्थिर होते हैं।

जो (कायिक, वाचिक तथा मानसिक) तप मूर्खतापूर्ण दुराग्रह के साथ अपने आपको कष्ट देकर या दूसरों को हानि पहुँचाने के लिये किये जाते हैं, वे तामसिक कहलाते हैं। धर्मानुरागी को द्वन्द्वों अथवा कठिनाइयों से डर कर कभी भी उत्तम कर्त्तव्यों का त्याग नहीं करना चाहियें। कठिनाईयों को सहन करते हुए सदा शुभ कर्मों में प्रवृत्त रहकर बुद्धिपूर्वक कठिनाइयों को दूर करने का प्रयास करना चाहिये। कहा भी है -

समस्या को समस्या समझना ही समस्या है।

समस्या को बुद्धिपूर्वक हल करना ही तपस्या है।।

तीसरा आधार

ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मान-
माचार्य कुलेऽवसादयन्।

आचार्य कुल में अपने आपको अत्यन्त क्लेश देता हुआ ब्रह्मचारी आचार्य कुलवासी धर्म का तीसरा आधार है।

ब्रह्मचर्याश्रम मानव जीवन रूपी भवन की नींव है। यह नींव जितनी सुदृढ़ तथा गहरी होगी, भवन उतना ही सुदृढ़ तथा टिकाऊ होगा। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी कहते हैं-

"ब्रह्मचर्याश्रम जो कि सब आश्रमों का मूल है, उसके ठीक-ठीक

सुधरने से सब आश्रम सुगम और बिगड़ने से नष्ट हो जाते हैं'' (ऋग्वेदादि भा॰भू॰) अथर्ववेद के ग्यारहवें कांड में ब्रह्मचर्य की महिमा में अनेक मंत्र आये हैं, उनमें से केवल एक मंत्र यहाँ प्रस्तुत है-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः।।

अथर्व॰ कांड 11 मं॰ 3

अर्थात् जो गर्भ में बस के माता और पिता के सम्बन्ध से मनुष्य का जन्म होता है, वह प्रथम जन्म कहाता है। और दूसरा यह कि जिसमें आचार्य पिता और विद्या माता होती है। इस दूसरे जन्म के न होने से मनुष्य को मनुष्यपन नहीं प्राप्त होता। इस लिये उसको प्राप्त होना मनुष्यों को अवश्य चाहिये। जब आठवें वर्ष पाठशाला में जाकर आचार्य अर्थात् विद्या पढ़ाने वाले के समीप रहते हैं तभी से उनका नाम ब्रह्मचारी वा ब्रह्मचारिणी हो जाता है। क्योंकि वे ब्रह्मवेद और परमेश्वर के विचार में तत्पर होते हैं। उनको आचार्य तीन रात्रि पर्य्यन्त गर्भ में रखता है। अर्थात् ईश्वर की उपासना, धर्म, परस्पर विद्या के पढ़ने और विचारने की युक्ति आदि जो मुख्य-मुख्य बाते हैं, वे सब तीन दिन में उनको सिखाई जाती हैं। तीन दिन के उपरान्त उनको देखने के लिये अध्यापक अर्थात् विद्वान् लोग आते हैं।''

(ऋग्वेदादि भा॰भू॰)

आचार्य कुल में ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय होकर कष्टों को सहता हुआ विद्यार्जन करता है। नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य का पालन करता हुआ अपनी शारीरिक, बौद्धिक तथा मानसिक शक्तियों का विकास करता है। भौतिक सुख-साधनों को त्याग कर सरल सादगीपूर्ण जीवन को बनाते हुए गुरुचरणों में रहकर विद्याभ्यास करते हुए वह चहुँमुखी प्रतिभा का धनी बन जाता है। आलसी, निठल्ला तथा सुखाभिलाषी विद्यार्थी कभी विद्या प्राप्त नहीं कर सकता। इस विषय में महात्मा विदुर जी कहते हैं-

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्यां विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्।।

सुख भोगने की इच्छा करने वाले को विद्या कहाँ? और विद्या

पढ़ने वाले को सुख कहाँ? क्योंकि विषय सुखार्थी विद्या को और विद्यार्थी विषय सुख को छोड़ दे। (विदुर प्रजागर अ॰ 40 श्लो॰ 6)

गुरु के द्वारा बुलाये जाने पर अध्ययन में लग जाने वाला, गुरु के कार्यों में बिना प्रेरणा किये तत्पर रहने वाला, गुरु से पूर्व जागने वाला और पीछे सोने वाला, कोमल स्वभाव वाला, मन को वश में रखने वाला, धैर्यशाली, प्रमाद न करने वाला, नशा न करने वाला और स्वाध्याय में लीन रहने वाला ब्रह्मचारी ही अपने लक्ष्य में सफल होता है। (महा॰ आ॰)

ऐसा ब्रह्मचारी ही वेद वेदांग निष्णात् होकर संसार में सत्य धर्म की स्थापना करके जीव मात्र का कल्याण कर सकता है। इसीलिये आचार्य कुलवासी ब्रह्मचारी को यहाँ धर्म का तीसरा स्कन्ध (आधार) कहा है

वर्णाश्रम धर्म

सुविज्ञ पाठकगण! आपने पिछले पृष्ठों में वेद उपनिषद् मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के आधार पर धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानने का प्रयास किया। परन्तु जानना और आचरण करना ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। यदि धर्म को जानकर उसपर आचरण न किया जाये, तो जानना व्यर्थ हो जाता है। प्राचीन काल में आचार्य शिष्य को यही उपदेश देता था - धर्मंचर - धर्म का आचरण कर। अतः धर्म आचरण की चीज है। वास्तव में धर्म सबका एक ही है। इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द जी कहते हैं - "धर्म नाम न्यायाचरण। न्यायाचरण नाम पक्षपात छोड़ के वर्तना। पक्षपात छोड़ना नाम सर्वदा अहिंसादि निर्वैरता सत्यभाषण आदि में स्थिर रहकर हिंसा, द्वेष आदि और मिथ्या भाषणादि से सदा पृथक रहना। सब मनुष्यों का यही एक धर्म है। किन्तु जो-जो धर्म के लक्षण वर्ण कर्मों में पृथक-पृथक आते हैं इसी से चार वर्ण पृथक-पृथक गिने जाते हैं। (संस्कार विधि गृ॰ प्र॰)

न्यायाचरण, अहिंसा, निर्वैरता, सत्यभाषणादि - ये सब साँझे के धर्म हैं। किन्तु जिस प्रकार यह हमारा शरीर चार भागों में बँटा हुआ है

उसी प्रकार मानव समाज को समुन्नत करने हेतु गुण, कर्म स्वभावानुसार अपने–अपने कर्त्तव्य रूपी धर्म का पालन करने के लिये हमारे प्राचीन ऋषियों ने इसे चार भागों में विभाजित किया था।

ब्राह्मण – शरीर में जो स्थान मुख का है वही समाज में ब्राह्मण का है। आँख, नाक, रसना, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों का केन्द्र मुख है। मानव समाज में जो ज्ञान विज्ञान का प्रचार–प्रसार करके अज्ञानान्धकार को दूर करने में लगा रहता है वह ब्राह्मण कहलाता है जैसे मुख, गर्मी, सर्दी आदि को सदा खुला रहकर सहन करता है, इसी प्रकार ब्राह्मण को भी तपस्वी होना चाहिये। मनु महाराज ने ब्राह्मण के छः कर्त्तव्य इस प्रकार लिखे हैं – (1) वेदादि शास्त्रों का अन्यों को पढ़ाना (2) स्वयं विद्या को पढ़ना (3) अग्निहोत्रादि यज्ञ का करना (4) यज्ञ कराना (5) विद्या अथवा सुवर्ण आदि का सुपात्रों को दान देना (6) न्याय से धनोपार्जन करने वाले गृहस्थों से दान भी लेना।

इनमें से पढ़ना, यज्ञ करना, दान देना धर्म तथा पढ़ाना, यज्ञ कराना, दान लेना जीविका है, परन्तु जो दान लेना है वह नीच कर्म है। किन्तु पढ़ाके और यज्ञ कराके जीविका करनी उत्तम है (म०द० कृत संस्कार विधि) ब्राह्मण को सदा संतोषी, निरभिमानी, धार्मिक, राग, द्वेष रहित, निन्दा स्तुति से दूर तथा सरल स्वभाव वाला होना चाहिये।

क्षत्रिय – शरीर में जो स्थान बाहुओं का है, वही स्थान समाज में क्षत्रिय का है। जो अन्याय से संघर्ष करता हुआ समाज में न्यायपूर्वक प्रजा की रक्षा करता है, वह क्षत्रिय कहलाता है। महर्षि मनु ने क्षत्रिय का कर्त्तव्य इस प्रकार लिखा है–

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।।

(मनु० 1/89)

दीर्घ ब्रह्मचर्य से (अध्ययनम्) साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों को यथावत् पढ़ना, (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना, (दानम्) सुपात्रों को विद्या सुवर्ण आदि और प्रजा को अभयदान देना, (प्रजानां रक्षणम्) प्रजाओं का सब प्रकार से सर्वदा यथावत् पालन करना, यह धर्म

क्षत्रियों के धर्म के लक्षणों में और शस्त्र विद्या का पढ़ाना, न्यायघर और सेना में जीविका करना क्षत्रियों की जीविका है। (संस्कार विधि ऋषि दयानन्द कृत अर्थ) क्षत्रिय को सदा निर्भीकता, तेजस्विता, न्यायप्रियता, बुद्धिमत्ता, धीरता, जितेन्द्रियता आदि गुणों से युक्त होना चाहिये।

वैश्य – शरीर में जो स्थान उदर भाग का है वही स्थान समाज में वैश्य का है। जो व्यक्ति पशु पालन, खेती, व्यापार आदि से धन का उपार्जन करता हुआ समाज तथा राष्ट्र हित में खर्च करता हुआ समाज तथा राष्ट्र को धन–धान्य से समृद्ध बनाता है, उसे वैश्य कहते हैं। इस विषय में मनु महाराज कहते हैं–

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च।।

(मनु॰ 1/90)

अर्थः (अध्ययनम्) वेदादि शास्त्रों का पढ़ना (इज्या) अग्निहोत्रादि यज्ञों का करना (दानम्) अन्नादि का दान देना ये तीन धर्म के लक्षण और (पशूनां रक्षणम्) गाय आदि पशुओं का पालन करना, उनसे दुग्धादि का बेचना (वणिक्पथम्) नाना देशों की भाषा, हिसाब, भू गर्भ विद्या, भूमि बीज आदि के गुण जानना और सब पदार्थों के भावाभाव समझना (कुसीदम्) ब्याज का लेना*–(कृषिमेव च) खेती की विद्या का जानना, अन्न आदि की रक्षा, खात और भूमि की परीक्षा, जोतना बोना आदि व्यवहार को जानना, ये चार कर्म वैश्य की जीविका के हैं। (संस्कार विधि ऋषि दयानन्द कृत अर्थ)

समाज तथा राष्ट्र में यदि किसी वस्तु का अभाव है तो उसे दूर करने का उत्तरदायित्व वैश्य का है। जिस प्रकार यदि शरीर का उदर भाग खाये पिये को संचित ही करता रहे, शरीर के अन्य अङ्गों में वितरण न करे तो अजीर्ण होकर व्यक्ति नाना प्रकार के रोगों से ग्रस्त हो

---

*सवा रुपये सैकडें से अधिक, चार आने से न्यून ब्याज न लेवे न देवे। जब दूना धन आ जाय उससे आगे कौंड़ी न लेवे न देवे। जितना न्यून ब्याज लेवेगा उतना ही उसका धन बढ़ेगा और कभी धन का नाश और कुसन्तान उसके कुल में न होंगे।

जाता है, इसी प्रकार यदि वैश्य धन का उत्पादन, अर्जन करके वितरण के माध्यम से समाज को उन्नत नहीं करता तो उस समाज में असंतोष, अराजकता तथा विद्वेष की भावना व्याप जाती है और वह समाज दुर्बल तथा हर प्रकार से अवनति को प्राप्त हो जाता है।

शूद्र – जो विद्या ग्रहण करने में असमर्थ हो। ज्ञान-विज्ञान से रहित बुद्धिहीन हो। राज्य प्रबन्ध करने की क्षमता जिसमें न हो। जो कृषि, व्यापार आदि करने की योग्यता न रखता हो। शारीरिक परिश्रम द्वारा समाज की सेवा करके जो अपने जीवन का निर्वाह करता है वह शूद्र कहलाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानव समाज को सुचारू रूप से चलाने के लिये इन चारो वर्णों की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में कहें तो समाज तथा राष्ट्र को समुन्नत करने के लिये शिक्षक, रक्षक, पोषक तथा सेवक – इन चारों का योगदान आवश्यक होता है।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि यह वर्ण-व्यवस्था जन्म के आधार पर नहीं अपितु गुण, कर्म, स्वभाव के आधार पर होती है। कुछ लोग जन्म के आधार पर जातिवाद के भेदभाव को फैलाकर समाज में घृणा, द्वेष तथा फूट के बीज बोकर अपने राजनैतिक अथवा अन्य स्वार्थ सिद्धि में लग गये। उन्होंने समाज की इतनी सुन्दर व्यवस्था प्रचलित करने वाले महर्षि मनु को ही कोसना प्रारम्भ कर दिया। मनु के भावों को वे समझ नहीं पाये। मनु महाराज ने समाज की सर्वाङ्गीण उन्नति का वर्ण व्यवस्था रूपी एक ऐसा ढाँचा प्रस्तुत किया है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता के अनुसार कार्यक्षेत्र का चुनाव करता है तथा अपने-अपने गुण कर्म स्वभाव के उन्नत या अवनत हो जाने पर शूद्र ब्राह्मण तथा ब्राह्मण शूद्र बन जाता है।

जिस प्रकार मानव समाज की उन्नति के लिये समांज को चार भागों में बाँटा गया है उसी प्रकार व्यक्तिगत उन्नति के लिये मानव जीवन को भी चार आश्रमों में विभाजित किया है।

ब्रह्मचर्य – इसमें पच्चीस वर्ष तक घर के राजसिक वातावरण से

दूर रह कर आचार्य कुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास करते हुए शारीरिक, मानसिक तथा बौद्धिक विकास किया जाता है। यह मानव जीवन रूपी भवन की नींव है। नींव जितनी मज़बूत होगी भवन भी उतना ही सुदृढ़ होगा। इस विषय में पहले लिखा जा चुका है।

गृहस्थ – इसमें ब्रह्मचारी विद्या प्राप्ति के पश्चात् अपने गुण कर्म स्वभावानुसार सुयोग्य कन्या से विवाह करके कार्य क्षेत्र में पदार्पण करता है। धर्मानुसार सन्तानों की उत्पत्ति तथा नियत काल में पंच महायज्ञों (ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ) को करता हुआ इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है।

किसी मनुष्य को गृहस्थाश्रम के अनुष्ठान से भय नहीं करना चाहिये, क्योंकि सब अच्छे व्यवहार वा सब आश्रमों का यह गृहस्थाश्रम मूल है इससे इस गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान अच्छे प्रकार से करना चाहिये और इस गृहस्थाश्रम के बिना मनुष्यों की वा राज्यादि व्यवहारों की सिद्धि कभी नहीं होती (यजु० 3/41 ऋषि दयानन्द कृत भावार्थ)

अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में गृहस्थ की महिमा का बखान करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं – "इस लिये जितना कुछ व्यवहार संसार में है, उसका आधार गृहस्थाश्रम है। जो यह गृहाश्रम न होता, तो सन्तानोत्पत्ति के न होने से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासाश्रम कहाँ से हो सकते? जो कोई गृहाश्रम की निन्दा करता है वही निन्दनीय है और जो प्रशंसा करता है वही प्रशंसनीय है।

इस सम्बन्ध में महर्षि मनु का कथन है – जिस प्रकार समस्त जन्तु अपने जीवन के लिये वायु पर आश्रित रहते हैं। उसी प्रकार समस्त आश्रम गृहस्थ पर आधारित हैं। क्योंकि गृहस्थाश्रम ज्ञान तथा अन्न से तीनों आश्रमों की पालना करता है। इस लिये गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा ज्येष्ठ है। इस लिये जो मोक्ष और संसार के

सुख की इच्छा करता हो, वह प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करे (मनु० 3/66-68) गृहस्थाश्रम को धारण करने के लिये किस प्रकार के गुण तथा योग्यता होनी चाहिये, इस सम्बन्ध में महर्षि दयानन्द यजुर्वेद (8/31) मंत्र के भावार्थ में लिखते हैं - इस बात का निश्चय है कि ब्रह्मचर्य, उत्तम शिक्षा, विद्या, शरीर और आत्मा का बल, आरोग्य, पुरुषार्थ, ऐश्वर्य, सज्जनों का संग, आलस्य का त्याग, यम नियम और उत्तम सहाय के बिना किसी मनुष्य से गृहाश्रम धारा नहीं जा सकता। इसके बिना धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये इसका पालन सबको बड़े प्रयत्न से करना चाहिये।'' गृहस्थाश्रम को चलाने के लिये धन ऐश्वर्य का होना अत्यन्त आवश्यक है। बिना धन के गृहस्थ नहीं चल सकता। अतः पुरुष को धन प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना आवश्यक है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि धन का उपार्जन करना पुरुष का ही उत्तरदायित्व है, स्त्री का नहीं। अथर्व वेद (अथर्व 14/1/26) में पति के लिये पत्नी की कमाई खाने का निषेध किया गया है। विवाह संस्कार के समय वर प्रतिज्ञा करता है-ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः (अथर्व० 14/1/52) यह वधू मेरी पोष्या-पालनीया है, इसके पालन-पोषण का उत्तरदायित्व मैं लेता हूँ। भगवान ने तुझे मुझको दिया है। विवाह संस्कार में सबके सामने प्रतिज्ञा करके विपरीत आचरण करना अशोभनीय है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि धन का उपार्जन न्यायपूर्वक होना चाहिये। अन्यायोपर्जित धन का परिणाम अन्ततः दुखदायी होता है। इस विषय में महात्मा विदुर जी का कथन है-

एकः पापानि कुरूते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते।।

(महाभारत उद्योग पर्व अ० 33/42)

''कुटुम्ब में एक पुरुष पाप करके पदार्थ लाता है और महाजन अर्थात् सब कुटुम्ब उसको भोगता है भोगने वाले दोष भागी नहीं होते किन्तु अधर्म का कर्त्ता ही दोष का भागी होता है''।

गृहस्थ में सुखी जीवन के लिये पति-पत्नी में परस्पर प्यार, परस्पर सहयोग, परस्पर विश्वास तथा परस्पर एक दूसरे की भावनाओं को समझ कर व्यवहार करना भी अनिवार्य है। इसके बिना जीवन में मधुरता नहीं आ सकेगी। अतः गृहस्थ जीवन को सुखी बनाने के लिये गृहस्थ के कर्त्तव्य-रूपी धर्म के पालन में सदा तत्पर रहना चाहिये।

वानप्रस्थ - गृहस्थ के सभी कर्त्तव्यों को पूरा करने के पश्चात् पुत्र के भी पुत्र हो जाने पर गृह त्याग करके आत्मोन्नति, साधना तथा स्वाध्यायादि के लिये वन में जाकर रहने को वानप्रस्थ कहते हैं। इस विषय में मनु महाराज कहते हैं - गृहस्थ जब देखे कि सिर के बाल श्वेत हो गये हैं, मुख पर झुरियाँ पड़ गई हैं तथा पुत्र के घर भी पुत्र हो गया है, तब गृहस्थ के कार्यों से मुक्त होकर आत्मिक उन्नति के लिये वन में जाकर रहे। ग्राम के सब राजसिक आहारों उत्तमोत्तम वस्त्रों तथा पदार्थों को छोड़ स्त्री को पुत्रों के पास छोड़ अथवा यदि उसकी साथ चलने की इच्छा हो तो उसे साथ लेके वन को जावे। नाना प्रकार के सामा आदि अन्न, सुन्दर-सुन्दर शाक, मूल, फल, फूल, कंद आदि से पञ्च महायज्ञों को करे और उसी से अतिथि-सेवा और आप भी निर्वाह करे। स्वाध्याय अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में नित्य युक्त, जितात्मा, सबका मित्र, इन्द्रियों का दमनशील, विद्यादि का दान देने हारा और सब पर दयालु , किसी से कुछ भी पदार्थ न लेवे, इस प्रकार सदा वर्तमान करे। जो जंगल में पढ़ाने और योगाभ्यास करने हारे तपस्वी धर्मात्मा विद्वान् लोग रहते हों जो कि गृहस्थ व वानप्रस्थ वनवासी हों उनके घरों में से भिक्षा ग्रहण करे।

(मनु॰ अ॰ 6 श्लो॰ 2.3.5.8.26 ऋ॰ द॰ कृत अर्थ)

उपरोक्त मनुस्मृति के श्लोकों को देखने से अनुमान होता है कि जिस काल में इसकी रचना हुई उस काल में नगरों व ग्रामों के चारों ओर घने जंगल थे, उन जंगलों में हमारे भारत के ऋषि, मुनि, विरक्त, कुटिया बनाकर रहते थे। वे गृहस्थियों की संतानों को निःशुल्क शिक्षा देते थे। भिक्षा माँग कर अपने जीवन का निर्वाह करते थे तथा स्वाध्याय तपश्चर्या योगाभ्यास, आत्मचिन्तन द्वारा मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते थे।

वर्तमान में परिस्थितियाँ बदल गई हैं। अब वो अरण्य (जंगल) नहीं रहे, जिनमें कुटी बना कर रहा जा सके, क्योंकि आधुनिक सभ्यता की अंधी दौड़ में मानव ने प्रकृति का अत्यधिक दोहन किया है, जंगल सब काट डाले। जहाँ कहीं नगरों में वानप्रस्थाश्रम बने हैं, उनमें भी अधिकांश वे ही वृद्ध महानुभाव रह रहे हैं जो जीवन निर्वाह के लिये पेन्शन पाते हैं अथवा पुत्रादिकों से मासिक आर्थिक सहयोग मिल जाता है, केवल भिक्षावृत्ति से इस युग में जीवन निर्वाह कठिन है। वे जन धन्य है जो वर्तमान युग की प्रतिकूल परिस्थितियों में भी तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए वानप्रस्थाश्रम मर्यादा का पालन करते हैं।

संन्यास

मोहादि आवरण, पक्षपात तथा अधर्म को छोड़कर परोपकारार्थ विरक्त होकर पृथिवी पर विचरण करना संन्यास कहलाता है (संस्कार विधि संन्यास प्रकरण)

महर्षि दयानन्द जी ने मनुस्मृति तथा जाबालोपनिषद् के आधार पर संन्यास के तीन प्रकार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं-

प्रथम जो वानप्रस्थ के आदि में कह आये हैं कि ब्रह्मचर्य पूरा करके गृहस्थ और गृहस्थ होके वनस्थ, वनस्थ होके संन्यासी होवे, यह क्रम संन्यास अर्थात् अनुक्रम से आश्रमों का अनुष्ठान करते-करते वृद्धावस्था में जो संन्यास लेना है उसी को क्रम-संन्यास कहते हैं।

द्वितीय प्रकार

जिस दिन दृढ़ वैराग्य प्राप्त होवे उसी दिन चाहे वानप्रस्थ का समय पूरा भी न हुआ हो अथवा वानप्रस्थ आश्रम का अनुष्ठान न करके गृहाश्रम से ही संन्यासाश्रम ग्रहण करे, क्योंकि संन्यास में दृढ़ वैराग्य और यथार्थ ज्ञान का होना ही मुख्य कारण है।

तृतीय प्रकार

यदि पूर्ण अखण्डित ब्रह्मचर्य, सच्चा वैराग्य और पूर्ण ज्ञान विज्ञान

को प्राप्त होकर विषयासक्ति की इच्छा आत्मा से यथावत् उठ जावे, पक्षपात रहित होकर सबके उपकार करने की इच्छा होवे, और जिसको दृढ़ निश्चय हो जावे कि मैं मरणपर्यन्त यथावत् संन्यास धर्म का निर्वाह कर सकूँगा, तो वह न गृहस्थाश्रम करे न वानप्रस्थाश्रम किन्तु ब्रह्मचर्याश्रम को पूर्ण कर के ही संन्यासाश्रम को ग्रहण कर लेवे। (संस्कार वि० संन्यास प्रकरण)

संन्यासाश्रम की उपयोगिता

ब्रह्मचर्याश्रम में विद्या पढ़ने, गृहस्थाश्रम से गृह सम्बन्धी कार्यों तथा वानप्रस्थाश्रम में तपश्चर्या, स्वाध्यायादि में व्यस्त रहने के कारण व्यक्ति समाज तथा राष्ट्र में धर्म प्रचार तथा ज्ञान-विज्ञान की वृद्धि के लिये विशेष सहयोग नहीं दे सकता, किन्तु संन्यासी इस कार्य को निश्चिन्त व निर्भीक होकर कर सकता है, क्योंकि संन्यासी निष्काम होता है। वह अपनी बात को पक्षपात रहित होकर सत्य के साथ कह सकता है। इस विषय में महर्षि दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है – जैसे शरीर में शिर की आवश्यकता है, वैसे ही आश्रमों में संन्यासाश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि इसके बिना विद्या-धर्म कभी नहीं बढ़ सकता, और दूसरे आश्रमों को विद्याग्रहण, गृहकृत्य और तपश्चर्यादि का सम्बन्ध होने से अवकाश बहुत कम मिलता है, पक्षपात छोड़कर वर्तना दूसरे आश्रमों को दुष्कर है।

जैसा संन्यासी सर्वतोमुक्त होकर जगत का उपकार करता है, वैसा अन्य आश्रमी नहीं कर सकता। क्योंकि संन्यासी को सत्य विद्या से पदार्थों के विज्ञान की उन्नति का जितना अवकाश मिलता है, उतना ही अन्य आश्रमों को नहीं मिल सकता।

(स० प्र० समु० 5)

ब्राह्मण ही संन्यास का अधिकारी

संन्यास ग्रहण करने का अधिकार केवल ब्राह्मण को ही है, क्योंकि जैसा कि पहले बताया जा चुका है, ब्राह्मण संतोषी, निरभिमानी, धार्मिक, राग द्वेष रहित, निन्दा स्तुति से दूर सरल स्वभाव सात्विक तथा

विद्वान होता है ऐसा व्यक्ति ही संन्यासाश्रम का पालन यथावत् कर सकता है। यद्यपि संन्यास के लिये वैराग्य का होना बहुत आवश्यक है किन्तु बिना ज्ञान के वह संसार में विद्या तथा धर्म का प्रचार प्रसार नहीं कर सकता।

तीन एषणाओं का त्याग

संन्यासी को तीन एषणाओं (इच्छाओं) का त्याग करना होता है 1. पुत्रैषणा – संतान का मोह। 2. वितैषणा – धनादि पदार्थों को संग्रह करने का मोह तथा लौकेषणा – संसार के व्यक्तियों द्वारा अपनी प्रशंसा का मोह। इन तीन एषणाओं से ग्रसित व्यक्ति संन्यास धर्म का पालन कदापि नहीं कर सकता।

संन्यासी का धर्म

संन्यासी जगत के सन्मान से विष के तुल्य डरता रहे, और अमृत के समान अपमान की चाहना करता रहे, क्योंकि जो अपमान से डरता और मान की इच्छा करता है वह प्रशंसक होकर मिथ्यावादी और पतित हो जाता है। इस लिये चाहे निन्दा हो चाहे प्रशंसा, चाहे मान हो चाहे अपमान, चाहे जीना हो चाहे मृत्यु, चाहे हानि हो चाहे लाभ, चाहे कोई प्रीति करे चाहे वैर बाँधे, चाहे अन्न पान वस्त्र उत्तम स्थान न मिले वा मिले, चाहे शीत उष्ण कितना ही क्यों न हो इत्यादि सबका सहन करे और अधर्म का खण्डन तथा धर्म का मण्डन सदा करता रहे, इससे परे उत्तम धर्म दूसरे किसी को न माने। परमेश्वर से भिन्न किसी की उपासना न करे, न वेद विरुद्ध कुछ माने, परमेश्वर के स्थान में सूक्ष्म वा स्थूल तथा जड़ और जीव को भी कभी न माने, आप सदा परमेश्वर को अपना स्वामी माने और आप सेवक बना रहे, वैसा ही उपदेश अन्य को भी किया करे। जिस-जिस कर्म से गृहस्थों की उन्नति हो वा माता, पिता, पुत्र, पुत्री, पति, बन्धु, बहिन, मित्र, पड़ोसी, नौकर, बड़े और छोटों में विरोध छूट कर प्रेम बढ़े उस उसका उपदेश करे।

(संस्कार विधि संन्यास प्रकरण)

आपने देखा कि मानव के व्यक्तिगत जीवन की सर्वाङ्गीण उन्नति

के लिये चारों आश्रमों का कितना महत्व है। व्यक्ति समाज की इकाई है, व्यक्ति का जीवन जितना सुन्दर तथा सुदृढ़ होगा, समाज भी उतना ही सुन्दर तथा सशक्त होगा। हमारे प्राचीन ऋषियों ने व्यक्तिगत एवं सामाजिक उन्नति के लिये वर्णाश्रम व्यवस्था की परिकल्पना करके उसे सुन्दर रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया। उनके बताये मार्ग पर चल कर ही हम अपना समाज का तथा राष्ट्र का कल्याण कर सकते हैं।

धार्मिक जीवन की पहचान

आप किसी उद्यान में जाते हैं, वहाँ नाना प्रकार के रंग-बिरंगे फूलों की भीनी-भीनी सुगन्ध से आपका मन प्रसन्न हो उठता है। आपकी इच्छा होती है कि अधिक से अधिक देर तक उद्यान की सैर करूँ। सैर करने के पश्चात् आप ज्यों ही वापिस चले, रास्ते में कहीं से दुर्गन्ध आई, आपने रुमाल जेब से निकाल कर अपनी नासिका पर रख लिया तथा शीघ्रता के साथ वहाँ से आगे निकल गये। इससे लगता है कि आप सुगन्ध चाहते हैं दुर्गन्ध नहीं और न केवल आप ही अपितु सभी व्यक्ति सुगन्ध चाहते हैं। इसी प्रकार यदि हम मानव समाज रूपी उद्यान में सुगन्ध चाहते हैं तो हमें स्वयं सुगन्धित होना पड़ेगा। जिस व्यक्ति के जीवन में अधर्म की दुर्गन्ध है वह मानव समाज रूपी उद्यान को सुवासित नहीं कर सकेगा। चाहे वह व्यक्ति कितना ही पूजा-पाठ तथा मंत्र-जाप आदि करता हो। इस विषय में स्वामी समपर्णानन्द जी सरस्वती अपने कायाकल्प ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखते हैं - "जिस मुहल्ले में तुम रहते हो यदि उसकी नालियाँ दुर्गन्ध युक्त हैं चारों ओर कीचड़ सड़ रहा है, मच्छरों की बस्तियाँ बस रही हैं, लोग मैले कुचैले, अनपढ़, रोगों के मारे और निर्धनता के सताये हैं और तुम इन अवस्थाओं में परिवर्तन करने के लिये कुछ नहीं कर रहे हो तो मत समझो तुम धर्मात्मा हो। चाहे तुम कितनी लम्बी समाधि भी लगाते हो, कितना भजन कीर्तन करते हो, कितने घण्टे-घड़ियाल बजाते हो और कितनी भी सामग्री फूँक देते हो, तो भी धर्मात्मा नहीं हो। यदि तुम्हारे मन्दिर की आरती ने, तुम्हारी लम्बी सन्ध्याओं ने और तुम्हारी पाँच नमाजों ने तुम्हारी आँखों को गरीबों का दुःख देखने के लिये, तुम्हारे कानों को

उनकी दर्द भरी आहें सुनने के लिये और तुम्हारे हाथों को उनके कष्ट निवारण के लिये विवश नहीं किया, तो तुम आँखें रखते भी अन्धे हो, कान रखते भी बहरे हो, हाथ रखते भी लूले हो।'' व्यक्ति के श्रेष्ठाचरण से ही उसके धार्मिक होने का पता चलता है। धार्मिक व्यक्ति कभी क्रूर नहीं हो सकता। वह कभी जीवों की हिंसा नहीं कर सकता। वह पराये दुख को देख कर दुखी हो उठता है। वह सभी प्राणियों में अपने समान आत्मा को देखता है। उसके हृदय में सभी प्राणियों के प्रति प्रेम की तरंगें प्रवाहित रहती हैं।

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने अपने ग्रन्थों में यत्र तत्र मानवीय धर्माधर्म सम्बन्धी विवेचना प्रस्तुत की है। उनमें से कुछ को यहाँ उद्धृत किया जाता है – ''मनुष्य उसी को कहना कि जो मनन शील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुख और हानि लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महा अनाथ निर्बल और गुण रहित क्यों न हों उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती सनाथ महा बलवान् और गुणवान भी हो तथापि उसका नाश, अवनति अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही चले जावें परन्तु इस मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे''

''जो पक्षपात रहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादि युक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको धर्म और जो पक्षपात सहित अन्यायाचरण, मिथ्या भाषणादि ईश्वराज्ञा भंग वेद विरुद्ध है उसको अधर्म मानता हूँ।'' *(सत्यार्थ प्रकाश स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश)*

जितने मनुष्य से भिन्न जातिस्थ प्राणी हैं उनमें दो प्रकार का स्वभाव है –बलवान से डरना, निर्बल को डराना और पीड़ा से अर्थात् दूसरे का प्राण तक निकाल के अपना मतलब साध लेना। जो मनुष्य ऐसा स्वभावरखता है उसको भी इन्हीं जातियों में गिनना उचित है परन्तु

जो निर्बलों पर "दया, उनका उपकार और निर्बलों को पीड़ा देने वाले अधर्मी बलवानों से किंचित मात्र भी भय, शंका न करके उनको पर पीड़ा से हटाके निर्बलों की रक्षा तन, मन और धन से सदा करता है वही मनुष्य जाति का निजगुण है क्योंकि जो बुरे कामों के करने में भय और सत्य के कामों के करने में किन्चित् भी भय शंका नहीं करते वे ही मनुष्य धन्यवाद के पात्र कहाते हैं।" (*व्यवहार भानु)*

"जो पक्षपात रहित न्याय, सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग, पाँचों परीक्षाओं के अनुकूल आचरण, ईश्वराज्ञा पालन, परोपकार करना रूप धर्म, जो इससे विपरीत वह अधर्म कहाता है।" *(व्यवहार भानु)*

प्रश्न – जो विद्या पढ़ा हो और उसमें धार्मिकता न हो तो उसको विद्या का फल होगा वा नहीं?

उत्तर – कभी नहीं, क्योंकि विद्या का यही फल है कि जो मनुष्य को धार्मिक होना अवश्य है, जिसने विद्या के प्रकाश से अच्छा जानकर न किया और बुरा जानकर न छोड़ा तो क्या वह चोर के समान नहीं है? क्योंकि जैसे चोर भी चोरी को बुरी जानता हुआ करता और साहूकारी को अच्छी जानके भी नहीं करता, वैसे ही जो पढ़के भी अधर्म को नहीं छोड़ता और धर्म को नहीं करने हारा मनुष्य है। (व्यवहार भानु)

प्रश्न – मनुष्य का आत्मा सदा धर्म और अधर्म युक्त किस-2 कर्म से होता है?

उत्तर – जब तक मनुष्य सर्वान्तर्यामी, सर्वदृष्टा, सर्वव्यापक, सर्व कर्मों के साक्षी परमात्मा से नहीं डरते, अर्थात् कोई कर्म ऐसा नहीं है जिसको वह न जानता हो। सत्य विद्या, सुशिक्षा, सत् पुरुषों का संग, उद्योग, जितेन्द्रियता, ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों के होने और लाभ के अनुसार व्यय करने से धर्मात्मा होता है और जो इससे विपरीत है वह धर्मात्मा कभी नहीं हो सकता (व्यवहार भानु)

वही सत्यपुरुष का लक्षण है कि जैसा आत्मा का ज्ञान वैसा वचन और जैसा वचन वैसा ही कर्म करना और जिसका आत्मा से मन, उससे वचन और वचन से विरुद्ध कर्म करना है वही असत्पुरुष का लक्षण है।

इस लिये मनुष्यों को उचित है कि सब प्रकार का पुरुषार्थ करके अवश्य धार्मिक हों। (व्यवहार भानु)

उपरोक्त महर्षि दयानन्द जी द्वारा अपने ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न स्थलों पर धर्माधर्म का विवेचन अज्ञानान्धकार में भूले-भटके मानव का मार्गदर्शन करता है। इसी ज्ञान के प्रकाश में अधर्म को त्याग धर्म का अनुसरण करके मानव जीवन में सच्चा सुख प्राप्त कर सकता है।

धर्म और विज्ञान

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्यात् ब्राह्मणं महत्।।

अथर्व वेद 10/8/36

अर्थ - (यः) जो मनुष्य (तत् विततम् सूत्रम्) उस तने हुए सूत्र को (विद्यात्) जान ले (यस्मिन्) जिस सूत्र में (इमाः प्रजाः) ये सब लोक-लोकान्तर तथा उत्पन्न हुई वस्तुएँ (ओताः) ओत-प्रोत अर्थात् माला के दानों के समान पिरोई हुई हैं और (यः) जो पुरुष (सूत्रस्य सूत्रम्) इस सूत्र के भी सूत्र को (विद्यात्) जान ले (स) वही मनुष्य (महत् ब्राह्मणम्) बड़े ब्रह्म को (विद्यात्) जान पाएगा।

कुछ लोगों का मानना है कि धर्म का विज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं। धर्म को विज्ञान का शत्रु समझते हैं। किन्तु यह धर्म को विज्ञान के विरुद्ध समझने की भ्रान्ति अकारण नहीं है। पिछले इतिहास को देखने से पता चलता है कि धर्म नामधारी लोगों ने वैज्ञानिकों पर अनगिनत अत्याचार किये हैं। उन्हें अनेकों प्रकार की यातनाएँ दी गईं। ईसाई जगत बाइबिल के आधार पर लम्बे समय तक यह मानता रहा कि पृथ्वी केन्द्र है और सूर्य उसकी चारों ओर परिक्रमा करता है। आगे चलकर विज्ञान के प्रकाश में गैलिलियों ने इस मान्यता का खंडन किया और कहा कि यह मान्यता बुद्धि विरुद्ध है। आकार की दृष्टि से सूर्य की तुलना में पृथ्वी ऐसे ही है जैसे एक विशाल पर्वत के सामने राई का दाना। यदि कोई कहे कि एक विशाल पर्वत राई के दाने जैसे केन्द्र की परिक्रमा करता था तो सुनकर लोग हँसेंगे, क्योंकि सरलता

और स्वाभाविकता इसी में है कि छोटी वस्तु बड़ी वस्तु के गिर्द घूमे। गैलिलियो की इस बात को सुनकर ईसाइयों की दुनिया में तहलका मच गया। यह उसका धर्मग्रन्थ के विरुद्ध बहुत बड़ा अपराध समझा गया और उसे 10 वर्ष कठोर कारावास का दण्ड दिया। धर्म का नाम लेकर ही ब्रोनो को जीवित अग्नि में जला दिया गया। देवी हाई पेशिया को बुरी तरह से मार दिया गया क्योंकि उसने गैलिलियों की बात का अनुमोदन किया था। इसी प्रकार अनेकों वैज्ञानियों को धर्म का विरोधी समझा जाने के कारण नाना प्रकार की अमानुषिक यन्त्रणायें दी गईं। किन्तु सच्चाई यह है कि धर्म और विज्ञान का परस्पर कोई विरोध नहीं अपितु दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। प्रो॰ हक्सले ने धर्म और विज्ञान दोनों पर विचार करते हुए कहा है–

The True Science and the True Religion are Twin Sisters their separation is a sure cause of death to both.

अर्थात् सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म दो जुड़वाँ बहिनें हैं उनका एक दूसरे से पृथक करना दोनों के नाश का कारण है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, मानव को इहलौकिक उन्नति करते हुए पारलौकिक उन्नति का भी प्रयास करना चाहिये। इसी में मानव जीवन की पूर्णता एवं सार्थकता है। धर्म और विज्ञान इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति करते हैं।

विज्ञान हमें ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराता है, धर्म आत्मा तथा ब्रह्म का ज्ञान प्रदान करता है। विज्ञान हमें शारीरिक सुख प्रदान करता है जबकि धर्म आत्मिक आनन्द की प्राप्ति कराता है। विज्ञान हमें बताता है कि इस ब्रह्माण्ड की रचना कैसे हुई, कब हुई, इसके उपादान कारण क्या हैं, इसके निर्माण में किन–2 पदार्थों का मेल हुआ, किन्तु धर्म हमें बताता है इस ब्रह्माण्ड की रचना किसने की और क्यों की।

विज्ञान हमें ब्रह्माण्ड का ज्ञान कराता है और धर्म हमें ब्रह्म का ज्ञान देता हैं। विज्ञान भौतिक विकास करता है तथा धर्म आध्यात्मिक विकास करता है।

विज्ञान के द्वारा हम नये-2 आविष्कार करके उसके सदुपयोग से सुख प्राप्त कर सकते हैं और दुरुपयोग से हानि भी उठा सकते हैं किन्तु धर्म मानव को सुख शान्ति तथा आनन्द की ओर ही ले जाता हैं

विज्ञान हमें नियम का ज्ञान कराता है, परन्तु धर्म नियामक का बोध कराता हैं। विज्ञान के नियमों को वैज्ञानिक बनाता नहीं अपितु खोज करता हैं। उदाहरणार्थ-विज्ञान का एक नियम यह है कि आक्सीजन का एक कण जब हाइड्रोजन के दो कणों से मिलता है तो पानी बन जाता है। इसको "एच टू ओ" (H_2O) कहते हैं। जो वैज्ञानिक जल पर अनुसंधान करेगा उसे सर्वत्र यही नियम दिखाई देगा। इस नियम को वैज्ञानिको ने बनाया नहीं अपितु खोजा है। नियम बनाने वाला ईश्वर है, जिसके सम्बन्ध में उपरोक्त वेद मंत्र में कहा-"जो पुरुष इस सूत्र के भी सूत्र को जान ले वही मनुष्य बड़े ब्रह्म को जान पायेगा।"

आज विज्ञान के क्षेत्र में मानव ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। नित नये-2 आविष्कार हो रहे हैं। वायुयान के द्वारा हम घंटों की यात्रा मिनटों में तय कर लेते हैं। घर में बैठे हुए दूरदर्शन पर वक्ता के दर्शन एवं उसके वक्तव्य का श्रवण सुगम हो गया है। इंटरनेट के माध्यम से सारे संसार की जानकारी घर में ही मिल रही है। मोबाईल के द्वारा कहीं भी व्यक्ति से संपर्क किया जा सकता है। फैक्स तथा ई-मेल के द्वारा लिखित विचारों को भेजने मे अब कुछ भी समय नहीं लगता। वस्त्र प्रक्षालन का कार्य मशीनों द्वारा हो रहा है। रोटी सेंकने के लिये सौर ऊर्जा से संचालित चूल्हे भी घरों में आ गये हैं। अन्न को सुखाने का यंत्र तथा आटा पीसने की चक्की भी विज्ञान की ही देन है। विज्ञान के कारण ही मानव चन्द्रमा पर पहुँचकर वहाँ की मिट्टी का अध्ययन अपनी प्रयोगशालाओं में कर रहा है। विज्ञान के कारण ही कृत्रिम उपग्रहों में बैठकर पृथ्वी की परिक्रमा कर रहा है। मंगल ग्रह तथा अन्य ग्रहों में भी जाने की योजना बना रहा है। चिकित्सा के क्षेत्र में भी विज्ञान का अभूतपूर्व योगदान हैं। मलेरिया तथा क्षय रोग जैसे असाध्य रोगों पर काबू पाया गया है। मस्तिष्क तथा हृदय का सफल आपरेशन विज्ञान के कारण ही सम्भव हो पाया हैं।

कई धर्मावलम्बी वक्ता मंच पर बैठकर विज्ञान को कोसते रहते हैं। वे कहते हैं कि विज्ञान मनुष्य को नास्तिकता के गहन गर्त में गिरा रहा है। यह विज्ञान विनाश का कारण तथा सारे अनर्थों की जड़ है। परन्तु जिस विज्ञान पर यह महानुभाव दोषारोपण करते हैं वे यह भूल जाते हैं कि जिस कूलर तथा पंखे की ठंडी हवा का वे आनन्द ले रहे हैं, जिस माइक्रोफोन पर वे भाषण दे रहे हैं तथा जिस विद्युत के दूधिया प्रकाश में रेशमी वस्त्र पहन कर विभिन्न हावभावों द्वारा श्रोताओं को आकर्षित कर रहे हैं, यह सब विज्ञान की ही तो देन है।

वेद्र कहता है।

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा।।

ऋग्वेद 1/22/19

"हे लोगों! विष्णु के कर्मों को देखो, जिन कर्मों को देख कर मनुष्य अपने व्रतों को पालन करने में सफल होता है। विष्णु इन्द्र का सबसे योग्य सखा है।" मानव उस प्यारे प्रभु की रचना को देख कर ही तो उसका अनुकरण करता है। उसने बगीचे में लाल, पीले, हरे, नीले नाना प्रकार के रंग बिरंगे फूलों को देखकर नाना प्रकार के रंगों को बनाया। आकाश में उड़ते हुए पक्षियों को देख कर वायुयान का निर्माण किया। जल में मछली को तैरते देखकर नौकाओं की रचना की। प्रभु द्वारा रचित सृष्टि का अनुकरण ही तो विज्ञान का आधार है। परन्तु विज्ञान की सार्थकता तभी है जब मनुष्य स्व विवेक द्वारा प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का उचित उपयोग करके लाभ प्राप्त करता हो। यदि वह प्रकृति के पदार्थ का दुरुपयोग करता है तो लाभ के स्थान पर हानि होगी। प्रभु प्रदत्त आणविक शक्ति पहले से ही विद्यमान थी, विज्ञान ने उसकी खोज की, उस शक्ति से मनुष्य अपना तथा दूसरों का विध्वंस कर सकता है और चाहे तो मानव कल्याण के लिये उपयोग में ले सकता है। अफीम और संखिया जैसी नशीली तथा विषैली वस्तुएँ भी सृष्टि में हैं, एक चतुर वैद्य इनसे मानव हितकारी औषधियों का निर्माण करता है किन्तु मूर्ख आदमी इन्हें खाकर अपनी जान गँवा बैठता हैं।

बुद्धिमान व्यक्ति चाकू से फल काट कर अपना कार्य सिद्ध करता है किन्तु मूर्ख आदमी उससे उँगली काट कर दुखी होता है। उपरोक्त वेद मंत्र हमें यही शिक्षा देता है कि उस ईश्वर की रचना को गहराई से देखो, और उससे बुद्धिपूर्वक कर्त्तव्याकर्त्तव्य को जानकर अपने व्रतों का पालन करो, अर्थात् अपने कर्त्तव्य पालन के प्रति जागरूक हो जाओ। हमें यह समझ लेना चाहिये कि विज्ञान धर्म से कोई अलग वस्तु नहीं है। महर्षि कणाद के अनुसार अभ्युदय (साँसारिक उन्नति) धर्म का पहला अंग है और अभ्युदय (साँसारिक उन्नति) विज्ञान के बिना सम्भव नहीं। अतः आज संसार में विज्ञान के द्वारा धर्म के प्रथम अंग अभ्युदय की पूर्ति हो रही है। किन्तु आज का मानव जहाँ विज्ञान के द्वारा अभ्युदय की पूर्ति में लगा हुआ है वहाँ वह निःश्रेयस अर्थात् परलोक को भूल बैठा है।

भूल बैठा आदमी उस आसमानी बाप को
बस खुदा समझा है उसने वर्क को और भाप को

जब तक मनुष्य धर्म के द्वितीय अंग निःश्रेयस की ओर अग्रसर नहीं होगा तब तक धर्म की पूर्णता सिद्ध नहीं हो सकेगी। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि परम पिता परमात्मा ही परम वैज्ञानिक है। वही आनन्द का देने वाला है। उसको जानकर कुछ भी जानना शेष नहीं रह जाता। उसकी शरण में जाकर ही परम गति अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है। आज हम पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुकरण करके भ्रमित हो रहे हैं। बाहर की चकाचौंध में हृदय का दीपक बुझ रहा है। किसी शायर ने कहा है–

अजब तमाशा है आज नूर मगरिब से
मशरिक को मिल रहा है
अंधेरा छा जायेगा जहाँ में
गर यही रोशनी रहेगी।

आइये हम संसार के अन्दर भौतिक उन्नति करते हुए जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर हों। इसी में मानव जीवन की सार्थकता है।

धर्म और राजनीति

हमारे देश के कुछ सत्तासीन नेता तथा अन्य भी कई महानुभाव यह कहते हुए नहीं थकते कि धर्म को राजनीति से अलग रखना चाहिये। ऐसे नेताओं तथा अन्य महानुभावों से मेरा यह प्रश्न है कि आजकल राजनीति में धर्म है ही कहाँ जिसे अलग करने के लिये वे इतना शोर मचाते हैं।

आज विडंबना यह है कि अधिकाँश धर्म के ठेकेदारों तथा धर्म का विरोध करने वालों को यही पता नहीं कि धर्म किसे कहते हैं। केवल बाह्याड़म्बरों, पूजा-पद्धतियों, सम्प्रदाय विशेष के नियमों को ही धर्म मान कर विषमता का विष फैलाने में लगे रहते हैं। महर्षि मनु द्वारा प्रतिपादित धर्म के दस लक्षण - धैर्य, क्षमा, मन को वश में रखना, चोरी न करना, अन्तःकरण तथा बाहर से शरीर को शुद्ध रखना, इन्द्रियों का निग्रह, बुद्धिपूर्वक कार्य करना, विद्या की वृद्धि करना, सत्य बोलना, क्रोध न करना, किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्ध नहीं रखते। ये गुण प्रत्येक मानव को धारण करने योग्य हैं। वास्तव में मानवता की इन्हीं गुणों से पहचान होती है। ये गुण सार्वभौमिक हैं, देश, जाति, मज़हब से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। किन्तु हमारे देश के कुछ राजनेता सम्प्रदायों की पूजा पद्धति को ही धर्म का नाम देकर अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये जन भावनाएँ भड़काने से नहीं चूकते। विभिन्न उपासना पद्धति को धर्म का नाम देने वाले पद लोलुप नेता आज अपने को धर्म निरपेक्ष कहलाने में गौरव समझते हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ है - धैर्य न रखना, क्षमा शील न होना, मन को वश में न रखना, सत्य न बोलना, चोरी को बुरा न समझना, क्रोध करना, वैर भाव रखना, लालची होना इत्यादि। सत्य तो यह है कि धर्म निरपेक्षता की यहपरिभाषा आज के अधिकाँश राजनीतिज्ञों तथा राजनीति पर चरितार्थ हो रही है। जो राजनेता मंच पर खड़े होकर देश हित की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं आज वही आकंठ भ्रष्टाचार में डूबे हुए हैं। कहीं चारा घोटला, कहीं चीनी घोटाला, कहीं शेयर घोटाला, कहीं बोफोर्स कांड, कहीं टेलीकाम काँड, सत्ताधारी लोग कर रहे हैं। जब शासक वर्ग ही स्वार्थ लिप्सा में अंधा होकर देश

को [illegible] 'यथा राजा तथा प्रजा' के अनुसार प्रजा भी वैसी ही होगी। यही कारण है कि आज हमारा राष्ट्र संकटों से घिरा हुआ है। देश के अन्दर विधर्मी मज़बूत मोर्चा बनाये हुए हैं। देश की रक्षा के गम्भीर राज़ बेचने वाले देशद्रोही जहाँ-तहाँ गुप्त स्थानों पर छुपे बैठे हैं। कोई देशद्रोही पकड़ा भी जाता है तो उस पर वर्षों तक मुकद्मे चलते हैं, तत्काल कोई दण्ड नहीं मिलता। कुछ दिनों तक समाचार पत्रों में चर्चा चलती है, फिर बात ठण्डी पड़ जाती है, जिसके कारण देशद्रोही गद्दारों का हौसला बढ़ता है। घुसपैठियों के लिये भारत देश एक सस्ती सराय बना हुआ हे। इस धर्मनिरपेक्ष राज्य में हर व्यक्ति को अपने धर्म का प्रचार करने की खुली छूट है। धर्म परिवर्तन के लिये बेइन्तहा पेट्रोडालर धन कई नाज़ायज रूपों से भारत आता रहता है। ये बातें सरकार अच्छी तरह जानती है परन्तु वोट व कुर्सी के लालच में आँख मूँदे रखती है। विद्रोही ताकतें सरकार को धमकियाँ देती रहती हैं। सरकार राष्ट्रविरोधी शक्तियों को कुचल देने के बयान देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर लेती है।

उधर भारत की सीमाओं पर चहुँओर खतरे मंडरा रहे हैं। उत्तर पश्चिम में पाकिस्तान अमेरिका की शह पर दनदना रहा है। धड़ाधड़ आधुनिकतम हथियारों के भंडार वह इकट्ठे कर रहा है। आतंकवादियों को पैसा प्रशिक्षण तथा हथियार वह दे रहा है। काश्मीर की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। साम्प्रादियक दंगे और हिंसा जगह-जगह रह-रह कर भड़क रही है। इन दंगों में हिंसा भड़काने वाले तत्व साफ बच निकलते हैं और निर्दोष मारे जाते हैं जैसा कि अभी गुजरात में हुआ है।

हिन्दुओं का धर्म व पुरुषार्थ धन इकट्ठा करने के सिवा कुछ नहीं। मकान तो बहुत सुन्दर आलीशान बना लिये, परन्तु रक्षा का साधन कुछ नहीं। परिणामस्वरूप जहाँ विधर्मी ताकत में होते हैं वहीं आये दि़न दंगे होते हैं। मंदिर तोड़े जाते हैं, आगजनी व कत्ल होते हैं और फिर पलायन करते हैं। बैंक लूटे जाते हैं। बस के यात्रियों को गोल़ी से भून दिया जाता है। पुलिस अधिकारी तथा उसकी संतान तक

को मार दिया जाता है फिर भी अपराधी पकड़ में नहीं आते। चहुँ ओर अराजकता फैली हुई है। अबसे 50-60 वर्ष पहले कोई महिला सोने चाँदी के आभूषणों से सुसज्जित होकर रात्रि में भी यदि कहीं चली जाती तो उसे कोई भय नहीं था, किन्तु आज दिन में ही नारी की इज्जत सुरक्षित नहीं है। चारों ओर छीना झपटी लूट खसोट मची हुई है। मानव जीवन का कोई मूल्य नहीं रह गया है। सरकारी उच्च पदों पर बैठे हिन्दु केवल नाम के हिन्दु हैं। उन्हें अपने गौरवमय इतिहास का ज्ञान नहीं। अपनी संस्कृति का ज्ञान नहीं। अपने सिद्धान्तों पर कभी चिन्तन मनन नहीं किया। यह कान्वेंट्स (Convents) की उपज हैं। पश्चिमी सभ्यता के साँचे में ढ़ले अपने देश, धर्म तथा संस्कृति की रक्षा नहीं कर सकते। जब तक वैदिक संस्कृति, सभ्यता तथा धर्म से अनुप्राणित राज्याधिकारी नही होंगे तब तक हमारा राष्ट्र कदापि समुन्नत नहीं हो सकेगा। वेद कहता है-

इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अपघ्नन्तो अराव्णः।

(ऋ 9/63/85)

(अप्तुर:) हे कर्मठ ज्ञानी जनों! (इन्द्रं) राज्य ऐश्वर्य को (वर्धत:) बढ़ाते हुए एवं (अराव्ण:) कृपण, मिथ्या - भाषण एवं छल कपटादि करने वाले जनों को (अपघ्नन्त:) नष्ट करते हुए (विश्वं) संसार को (आर्य) श्रेष्ठ (कृणवन्त:) करो।

इस मन्त्र में ऐश्वर्य को बढ़ाते हुए श्रेष्ठ पुरुषों की वृद्धि तथा दुष्ट जनों के विनाश का विधान किया है। किन्तु आज दुष्ट जनों की वृद्धि हो रही है। आज भारत में चहुँ ओर भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी, चोर बाज़ारी, अण्डे, माँस, मदिरा, बीड़ी, सिगरेट, गुटखा, चरस, अफीम, भांग, गांजा आदि स्वास्थ्य एवं बुद्धि नाशक पदार्थों का सेवन, निर्दोष मूक गौ आदि पशुओं का वध, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन के परस्पर मुकद्दमे, महिलाओं से बलात्कार, दूरदर्शन पर नग्न चित्र, अश्लील गान, भौंडे प्रदर्शन आदि दुष्कर्म हो रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे देश ने भौतिक स्तर पर बहुत उन्नति की है किन्तु नैतिकता का निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

महर्षि दयानन्द और राजनीति

युग प्रवर्तक महर्षि दयानन्द जी महाराज ने कभी कहीं राजनीति की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने राजनीति को धर्म का एक अंग माना है। राजनीति को उन्होंने राजधर्म कहा है और इसके लिये उन्होंने अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश में एक पूरा राजनीति विषयक छटा समुल्लास लिखा है। वे एक तन्त्र निरंकुश राज्य शासन को स्वीकार नहीं करते हैं। उन्होंने वेद मंत्रों का उद्धरण देते हुए लिखा है–

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि विश्वानि भूषथः सदांसि।

(ऋ०मं० 3 सू० 38 मन्त्र6)

तीन सभाएँ अर्थात् विद्यार्य सभा, धर्मार्य सभा, राजार्य सभा होनी चाहिये। राजा जो सभापति, तदाधीन सभा, सभाधीन राजा और सभा प्रजा के आधीन और प्रजा राज सभा के आधीन रहे। इस प्रकार महर्षि द्वारा प्रस्तुत राज्य व्यवस्था में प्रजातन्त्र के दोषों की सम्भावना नहीं है। महर्षि ने राजा और प्रजा की परिभाषा इस प्रकार की है –

''राजा उसको कहते हैं जो शुभ गुण कर्म स्वभाव से प्रकाश मान, पक्षपात रहित न्याय धर्म की सेवा, प्रजाओं में पितृवत् वर्ते और उनको पुत्रवत् मान के उनकी उन्नति और सुख बढ़ाने में सदा यत्न किया करे।''

(स०प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश - 16)

''प्रजा उसको कहते हैं कि जो पवित्र गुण कर्म स्वभाव को धारण करके पक्षपात रहित न्याय धर्म के सेवन से राजा और प्रजा की उन्नति चाहती हुई राज विद्रोह रहित राजा के साथ पुत्रवत् वर्ते।'' (स०प्र० स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश - 18)

सभासदों की योग्यता

महाविद्वानों को विद्यासभाऽधिकारी, धार्मिक विद्वानों को धर्म सभाऽधिकारी, प्रशंसनीय धार्मिक पुरुषों को राज सभा के सभासद और जो उन सब में सर्वोत्तम गुण, कर्म, स्वभाव युक्त महान पुरुष हो

उसको राजसभा का पतिरूप मान के सब प्रकार से उन्नति करें। तीनो सभाओं की सम्मति से राजनीति के उत्तम नियम और नियमों के आधीन सब लोग वर्तें, सबके हित कारक कामों में सम्मति करें सर्व हित करने के लिये परतन्त्र और धर्म युक्त कामों में अर्थात् जो जो निज के काम हैं उनमें स्वतंत्र रहें। (स॰प्र॰ षष्ठ समुल्लास)

मन्त्रियों की योग्यता

स्व राज्य स्व देश में उत्पन्न हुए, वेदादि शास्त्रों के जानने वाले, शूर वीर, जिनका लक्ष्य अर्थात् विचार निष्फल न हो और कुलीन अच्छे प्रकार सुपरीक्षित सात वा आठ उत्तम धार्मिक चतुर "सचिवान्" अर्थात् मन्त्री करे। (मनु॰ 6/24)

प्रजा पालन राजा का धर्म

राजा का परम धर्म प्रजा का पालन करना है सभा जैसा कर नियत करे उसका भोक्ता राजा धर्म से युक्त होकर सुख पाता है, इससे विपरीत दुख को प्राप्त होता है[1]।

जैसे जोंक, बछड़ा और भँवरा थोड़े-2 योग्य पदार्थ को ग्रहण करते हैं वैसे राजा प्रजा से थोड़ा-2 वार्षिक कर लेवे[2]।

जो राजा मोह से, अविचार से अपने राज्य को दुर्बल करता है वह राज्य और अपने बन्धु सहित जीवन से पूर्व ही शीघ्र नष्ट - भ्रष्ट हो जाता है[3]। प्रजा के धनाढ्य आरोग्य खान पान आदि से सम्पन्न रहने पर राजा की बड़ी उन्नति होती है। प्रजा को अपने सन्तान के सदृश सुख देवे और प्रजा अपने पिता सदृश राजा और राज पुरुषों को जाने। यह बात ठीक है कि राजाओं के राजा, किसान आदि परिश्रम करने वाले हैं और राजा उनका रक्षक है जो प्रजा न हो तो राजा किसका?

---

1. मनु॰ 6/188
2. मनु॰ 6/128
3. मनु॰ 6/111

और राजा न हो तो प्रजा किसकी कहावे? दोनों अपने-2 काम में स्वतंत्र और मिले हुए प्रीति युक्त काम में परतन्त्र रहें। प्रजा की साधारण सम्मति के विरुद्ध राजा वा राज पुरुष नहीं, राजा की आज्ञा के विरुद्ध राज पुरुष न चलें।[4]

स्वराज्य महिमा

महर्षि दयानन्द जी ने सर्वप्रथम स्वराज्य का उद्घोष करते हुए लिखा है - कोई कितना ही करें परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मत मतान्तर के आग्रह रहित अपने और पराये का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।[5]

राजा धार्मिक हो

राजा के जीवन में धर्माचरण भी होना चाहिये। क्योंकि जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता है और जब दुष्टाचारी होते हैं तब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।[6] अतः राजा, सभा जन तथा प्रजा के साथ धर्म युक्त व्यवहार करें[7]। ज़ो विद्वान अत्यन्त बलशाली भुजाओं वाला, महाबुद्धिमान और विशेष रूप से धार्मिक होता हुआ ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये निरन्तर पुरुषार्थ करता है, वह ऐश्वर्य पाकर फिर सारी प्रजा को धर्म में प्रविष्ट करके यज्ञ के समान सदा सुख पहुँचाता है[8]।''

यथोचित न्याय तथा दण्ड व्यवस्था

जिस प्रकार परमेश्वर सभी जीवों को उनके कर्मानुसार यथायोग्य फल देता है, इसी प्रकार राजा भी धर्मात्माओं को सुख तथा दुष्टों को दण्ड देकर पक्षपात रहित उचित न्याय से राज्य में सुख-शान्ति की स्थापना करे। दण्ड के सम्बन्ध में मनु महाराज कहते हैं-

---

4. स॰प्र॰स॰ 6
5. स॰प्र॰स॰ 8
6. स॰प्र॰ स॰ 6
7. यजु॰ 6/21 भा॰
8. ऋ॰ 6-63-3

दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्त्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः।।

(मनु॰ 9/18)

दण्ड ही प्रजा का शासनकर्त्ता, सब प्रजा का रक्षक, सोते हुए प्रजास्थ मनुष्यों में जागता है। इसीलिये बुद्धिमान लोग दण्ड ही को धर्म कहते हैं।

दण्ड से हानि लाभ

समीक्ष्य स धृतः सभ्यक् सर्वा रंजयति प्रजाः।
असमीक्ष्य प्रणीतस्तु विनाशयति सर्वतः।।

मनु॰ 6/18

जो दण्ड अच्छे प्रकार विचार से धारण किया जाये तो वह सब प्रजा को आनन्दित कर देता है और जो बिना विचार चलाया जाये तो सब ओर से राजा का विनाश कर देता है।

चक्रवर्ती और माण्डलिक दो राजा

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा तौ भक्षं चक्रतुरग्रऽएतम्।।

(यजु॰ अ॰ 8 मं॰ 36 द॰भा॰)

प्रजा के बीच अपनी-2 सभाओं सहित राजा होने के योग्य दो (पुरुष) होते हैं, एक चक्रवर्ती अर्थात् एक चक्रराज करने वाला और दूसरा माण्डलिक कि जो मण्डल का ईश्वर (राजा) हो। ये दोनों प्रकार के राजा जन उत्तम न्याय, नम्रता, सुशीलता और वीरतादि गुणों से प्रजा की रक्षा अच्छे प्रकार करे। फिर उन प्रजा जनों से यथायोग्य कर लेवें और सब व्यवहारों में विद्या की वृद्धि सत्यवचन का आचरण करें। इस प्रकार धर्म, अर्थ और कामनाओं से प्रजाजनों को संतोष देकर आप संतोष पावें। आपत्काल में राजा प्रजा की तथा प्रजा राजा की रक्षा कर परस्पर आनन्दित हों।

धार्मिक ही चक्रवर्ती राज्य के योग्य

एषते निर्ऋते भागस्तं
जुषस्व स्वाहा अग्नि नेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः सद्भ्यः स्वाहा।।

(यजु० अ० 9 मं० 35 द०भा०)

जिसकी सभा वा राज्य में पूर्ण विद्या युक्त धार्मिक मनुष्य सभासद वा कर्मचारी होते हैं और जिसकी सभा वा राज्य में मिथ्यावादी, व्यभिचारी, अजितेन्द्रिय, कठोर वचनों के बोलने वाले, अन्यायकारी, चोर और डाकू आदि नहीं होते और आप भी इसी प्रकार का धार्मिक होता है। वही पुरुष चक्रवर्ती राज्य करने के योग्य होता है। इससे विरुद्ध नहीं।'' महर्षि दयानन्द जी महाराज ने वेद भाष्यादि ग्रन्थों में माण्डलिक एवं चक्रवर्ती राज्य एवं राजा के कर्त्तव्यों को सहस्रों स्थानों पर वर्णन किया है, किन्तु यहाँ विस्तार भय से अति संक्षेप में राज धर्म विषयक लिखा गया है। अधिक जानने के लिये मनुस्मृति सप्तम् अष्टम् नवम् अध्याय, विदुरनीतिप्रजागर, शुक्रनीति कौटिल्य अर्थ शास्त्र, तथा महाभारत शान्ति पर्व के राज धर्म का अध्ययन करें।

धर्म और मत (सम्प्रदाय)

बहुत से व्यक्ति धर्म तथा मत (सम्प्रदाय) को एक समझते हैं। किन्तु धर्म तथा मत (सम्प्रदाय) में आकाश पाताल का अन्तर है। जो ईश्वर पर आधारित है वह धर्म तथा जो मनुष्य (गुरु पैगम्बर) पर आधारित है उसे मत, सम्प्रदाय, मज़हब, पन्थ आदि नामों से पुकारते हैं। परम पिता परमेश्वर ने मानव मात्र के कल्याण के लिये सृष्टि के आदि में पावन वेद का ज्ञान प्रदान किया। अतः हमारे प्राचीन ऋषियों ने कहा कि जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करें वे वेद द्वारा धर्म का निश्चय करें। क्योंकि धर्माधर्म का निश्चय बिना वेद के ठीक ठीक नहीं होता। धर्म को जानने की इच्छा वालों के लिये वेद ही परम प्रमाण है। (धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः) (मनु० 2/12)। इसके अतिरिक्त मत वह है जो समय समय पर मनुष्यों ने अपनी स्वार्थ सिद्धि अथवा तात्कालिक परिस्थितियों के अनुसार प्रचलित किया। जो ईश्वर द्वारा प्रकाशित एवं स्थापित और सब मनुष्यों को मान्य वह धर्म तथा जो

मनुष्य द्वारा प्रकाशित एवं स्थापित और कुछ मनुष्यों को मान्य हो वह मत होता है।

2. धर्म ईश्वर प्रतिपादित होने के कारण एक है। वह मानव मात्र के लिये है। इसमें हिन्दु, सिख, ईसाई, मुसलमान, पारसी, जैनी, यहूदी आदि किसी के लिये भी पक्षपात नहीं। महर्षि दयानन्द जी की मान्यता भी यही है कि धर्म एक होता है अनेक नहीं तथा धर्म वह है जिसका कोई विरोधी न हो। स्वामी जी के शब्द हैं – "धर्म एक होता है वा अनेक? जो कहो अनेक होते हैं, तो एक दूसरे के विरुद्ध होते हैं वा अविरूद्ध? जो कहो कि विरुद्ध होते हैं तो एक के बिना (अर्थात् अतिरिक्त) दूसरा धर्म नहीं हो सकता और जो कहो कि अविरुद्ध हैं तो पृथक्-पृथक् होना व्यर्थ है। इस लिये धर्म एक है अनेक नहीं।" (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास) "जिस बात में सहस्र एक मत हो, वह ग्राह्य है और जिसमें परस्पर विरोध हो, वह कल्पित झूठा अधर्म अग्राह्य है।" (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास) वेदोक्त उपदेश सत्य, न्याय, दया, अहिंसादि मानव मात्र के लिये हैं। इनमें किसी का भी विरोध नहीं है। किन्तु मत मतान्तर मनुष्यों द्वारा प्रचलित होने के कारण अनेक हैं, जिनमें दूसरों की निन्दा तथा अपने अनुयायियों के पक्षपात की बातों से भरे हैं।

3. धर्म मानव मात्र के कल्याण के लिये है किन्तु मत या सम्प्रदाय केवल अपने अनुयायियों के कल्याण का उत्तरदायित्व लेता है। उसका आधार केवल ईमान या विश्वास है। उनके अनुसार जो पैगम्बर पर विश्वास लाता है। उसे मरने के बाद बहिश्त (स्वर्ग) की प्राप्ति होगी।

4. धर्म में बाह्याडम्बर को स्थान नहीं। इसमें सत्य, न्याय, दया, सरलता, अहिंसा, सदाचार, चरित्र का होना आवश्यक है, किन्तु मत (सम्प्रदाय) में आन्तरिक मानवीय गुणों की उपेक्षा करके बाह्य चिन्हों पर अधिक बल देता है। जैसे तिलक लगाना, माला धारण करना, दाढ़ी केश रखना, आदि।

5. धर्म में सृष्टि नियम के विरुद्ध असम्भव बातों को कोई स्थान नहीं क़िन्तु मतों (सम्प्रदायों) के ग्रन्थ इन्हीं असम्भव बातों (गपोड़ों)

से भरे पड़े हैं। जैसे हनुमान जी का सूर्य को मुँह में डाल लेना, ईसा का कुँवारी मरियम के पेट से पैदा होना, पार्वती द्वारा मैल की बाती से गणेश की उत्पत्ति, शिवजी द्वारा गणेश का सिर काट कर हाथी का सिर जोड़ देना आदि।

6. धर्म सदा से है और सदा रहेगा। इसका कोई विनाश नहीं कर सकता, किन्तु मत (सम्प्रदाय) समय समय पर बनाये गये हैं इस लिये उनका विनाश भी निश्चित है।

7. धर्म सत्य से परिपूर्ण होता है। इसीलिये स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज के पाँचवें नियम में लिखा है – (सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्य और असत्य को विचार करके करने चाहिये) सत्य और असत्य को विचार कर कार्य करने वाला व्यक्ति ही वास्तव में धार्मिक है। इसके विपरीत मत में सत्य और असत्य, दोनों का मिश्रण होता है। महर्षि दयानन्द सत्यार्थ प्रकाश की भूमिका में लिखते हैं – "जो जो सब मतों में सत्य सत्य बातें हैं उनका स्वीकार करके जो मत मतान्तरों में मिथ्या बातें हैं उन उनका खन्डन किया है।"

8. धर्म का आचरण करने से मानव इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति करके मनुष्य जीवन को सफल करता है, किन्तु मत मतान्तरों के चक्कर में फँस कर मनुष्य अपने जीवन को बरबाद कर लेता है।

'मत' शब्द अन्य अर्थों में भी

महर्षि दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश में 'मत' शब्द को विचार और सिद्धान्त के अर्थों में भी प्रयुक्त किया है–

प्रश्न – तुम्हारा मत क्या है?

उत्तर – वेद अर्थात् जो जो वेद में करने और छोड़ने की शिक्षा की है, उस उसका हम यथावत् करना छोड़ना मानते हैं। जिस लिये वेद हमको मान्य हैं इस लिये हमारा मत वेद है। ऐसा हो मानकर सब मनुष्यों को विशेषतः आर्यों को एकमत होकर रहना चाहिये।

(स॰ प्र॰ तृतीय समुल्लास)

जो कोई किसी से पूछे कि तुम्हारा क्या मत है तो यही उत्तर देना कि हमार मत वेद अर्थात् जो कुछ वेदों में कहा है हम उसको मानते हैं।

सं॰प्र॰ सप्तम समुल्लास

'मत' शब्द कोश ग्रन्थों में मुख्य रूप से इन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है – चिन्तन, विचार, सम्मति, विश्वास, पर्यवेक्षण, सिद्धान्त, उसूल, पन्थ, उपदेश, अनुदेश, सलाह, उद्देश्य, योजना, अभिप्राय, प्रयोजन, समनुमोदन, स्वीकृति प्रशंसा।

(द्रष्टव्य – वामन, शिवराम आप्टे – संस्कृत हिन्दी कोश पृ॰ 634)

उपरोक्त अर्थों में महर्षि दयानन्द जी महाराज ने 'मत' शब्द को विचार और सिद्धान्त के अर्थों में ही प्रयुक्त किया है।

आर्यवर्त का गौरव

हमारा आर्यवर्त एक ऐसा देश है जिसके समान संसार में अन्य कोई देश नहीं है। प्राचीन जगदगुरू शिरोमणि होने का गौरव इसी देश को प्राप्त है। "इसीलिये इस भूमि का नाम सुवर्णभूमि है, क्योंकि यही सुवर्णादि रत्नों को उत्पन्न करती है। इसी लिये सृष्टि की आदि में आर्य लोग इसी देश में आकर बसे। पारस मणि पत्थर सुना जाता है यह बात तो झूठी है, परन्तु आर्यवर्त देश ही सच्चा पारस मणि है कि जिसको लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूते के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं।" (सत्यार्थ प्रकाश एकादश समुल्लास) संसार में जितनी विद्या फैली वह सब इसी देश से गई। यही प्राचीन ऋषि मुनियों का देश रहा है।

महर्षि मनु से लेकर आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व तक आर्यों का चक्रवर्ती राज्य इस देश में रहा। महाभारत पर्यन्त सभी देशों ने इसकी आधीनता स्वीकार की हुई थी। अनेकों चक्रवर्ती प्रतापी सम्राट आर्य वंश में महाभारत पर्यन्त होते रहे। महाराजा युधिष्ठर के राजसूय यज्ञ में अमेरिका, तिब्बत, चीन तथा ईरान आदि देशों से राजा लोग भेंट लेकर आये थे।

पतन के कारण (आपस की फूट)

इस शिरोमणि देश को महाभारत के युद्ध ने ऐसा धक्का दिया कि अब तक भी यह अपनी पूर्व दशा में नहीं आया। क्योंकि जब भाई को भाई मारने लगे तो नाश होने में क्या सन्देह?

विनाश काले विपरीत बुद्धिः जब नाश होने का समय निकट आता है तब उल्टी बुद्धि होकर उल्टे काम करते हैं। कोई उनको सूधा समझावे तो उल्टा माने और उल्टा समझावे उसको सूधी मानें। जब बड़े-बड़े विद्वान, राजा, महाराजा, ऋषि, महर्षि लोग महाभारत युद्ध में बहुत से मारे गये और बहुत से मर गये तब विद्या और वेदोक्त धर्म का प्रचार नष्ट हो चला। ईष्या, द्वेष, अभिमान आपस में करने लगे। जो बलवान हुआ वह देश को दाब कर राजा बन बैठा।'' (स०प्र० एकादश समुल्लास) जब आपस में भाई-भाई लड़ते हैं तभी तीसरा विदेशी आकर पञ्च बन बैठता है। आपस की फूट से कौरव पाँडव और यादवों का सत्यानाश हो गया सो तो हो गया परन्तु अब तक भी वही रोग पीछे लगा है। न जाने यह भयंकर राक्षस कभी छूटेगा वा आर्यों को सब सुखों से छुड़ा कर दुःख सागर में डुबा मारेगा? उसी दुष्ट दुर्योधन गोत्र हत्यारे, स्वदेश विनाशक, नीच के दुष्टमार्ग में आर्य लोग अब तक भी चल कर दुःख बढ़ा रहे हैं। परमेश्वर कृपा करे कि यह राज रोग हम आर्यों में से नष्ट हो जाय।'' (स०प्र० दशम समुल्लास) ऋषि के इन शब्दों में कितनी मार्मिक वेदना है।

''विदेशियों के आर्यावर्त में राज्य होने के कारण आपस की फूट, मतभेद, ब्रह्मचर्य का सेवन न करना, विद्या न पढ़ना पढ़ाना वा बाल्यावस्था में अस्वयंवर विवाह, विषयासक्ति, मिथ्या भाषण आदि कुलक्षण, वेद विद्या का अप्रचार आदि कुकर्म हैं।'' (सं०प्र० दशम समुल्लास)

वेद में जुआ खेलने का स्पष्ट निषेध किया गया है – 'अक्षैर्मादीव्यः- (ऋ० 10/34/13) किन्तु धर्म राज की उपाधि से विभूषित युधिष्ठिर जुए में लिप्त हो गये। महान पराक्रमी बाल ब्रह्मचारी ज्ञानी पुरुष भीष्म पितामह ने भी पुरुष को अर्थ का दास बताकर उस अभिमानी, अधर्मी दुर्योधन का साथ दिया। जब ज्ञानी और धर्मराज कहे जाने वाले पुरुष भी अपने कर्त्तव्य से विमुख हो गये तो वैदिक धर्म की रक्षा कैसे हो?

''क्योंकि इस परमात्मा की सृष्टि में अभिमानी अन्यायकारी अविद्वान लोगों का राज्य बहुत दिन नहीं चलता। इस संसार की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब बहुत सा धन असंख्य प्रयोजन से अधिक होता है तब आलस्य, पुरुषार्थ रहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और

प्रमाद बढ़ता है। इससे देश में विद्या सुशिक्षा नष्ट होकर दुर्गुण और दुष्ट व्यसन बढ़ जाते हैं।'' (स॰ प्र॰ एकादश समुल्लास) फलतः महाभारत का युद्ध हुआ जिसमें आर्य जाति का प्राचीन गौरव, वैभव, सब नष्ट हो गया। ब्राह्मणों ने वेद शास्त्रों का पठन पाठन छोड़ दिया। विद्वान ब्राह्मणों, उपदेशकों के अभाव में सर्वत्र अविद्या का बोलबाला हो गया। महर्षि कपिल कहते हैं–

उपदेश्योपदेष्द्रत्वात् तत्सिद्धिः। इतरथान्धपरम्परा।।

(सा॰द॰अ॰ 3/68, 81)

अर्थात् जब उत्तम उत्तम उपदेशक होते हैं तब अच्छे प्रकार धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सिद्ध होते हैं और उत्तम उपदेशकों के न रहने से अन्धपरम्परा चल पड़ती है।

विभिन्न मत मतान्तरों का प्रादुर्भाव

विद्वान ब्राह्मणों, उपदेशकों, ऋषियों–मुनियों, राजे महाराजों के अभाव में स्वार्थी वेद विद्या हीन ब्राह्मणों ने अपनी मनचाही प्रारम्भ की। उन्होंने क्षत्रियादि लोगों को पढ़ाना छोड़ दिया, ताकि अविद्या ग्रस्त रहने से उन्हें अपने जाल में फंसा सकें। ऋषियों, मुनियों के नाम से पुराणादि अनार्ष ग्रन्थों की रचना की। इन अनार्ष ग्रन्थों के बनाने वालों का काल्पनिक नाम ऋषि–महर्षि इस लिये रखा, जिससे इन अनार्ष ग्रन्थों का आर्ष ग्रन्थों के समान सम्मानजनक स्थान मिल सके।

''जब अविद्वान् हुए गुरू बन गए तब छल कपट अधर्म भी उनमें बढ़ता चला। ब्राह्मणों ने विचारा कि अपनी जीविका का प्रबन्ध करना चाहिये। सम्मति करके यही निश्चय कर क्षत्रिय आदि को उपदेश करने लगे कि हम ही तुम्हारे पूज्य देव हैं। बिना हमारी सेवा किये तुमको स्वर्ग वा मुक्ति न मिलेगी। किन्तु जो तुम हमारी सेवा न करोगे तो घोर नरक में पड़ोगे। जो जो पूर्ण विद्या वाले धार्मिकों का नाम ब्राह्मण और पूजनीय वेद और ऋषि मुनियों के शास्त्र में लिखा था, उनको मूर्ख, विषयी, कपटी, लम्पट, अधर्मी अपने पर घटा बैठे। भला वे आप्त विद्वानों के लक्षण इन मूर्खों में कब घट सकते हैं?'' (स॰प्र॰ एकादश समुल्लास)
''यह सिद्ध है कि पाँच सहस्र वर्षों के पूर्व वेद–मत से भिन्न दूसरा कोई भी मत न था, वेदों की अप्रवृत्ति होने का कारण महाभारत युद्ध हुआ। वेद

विद्या के अभाव में संसार में चारों ओर अविद्यान्धकार फैल गया। मनुष्यों की बुद्धि भ्रम युक्त होकर जिसके मन में जैसा आया वैसा मत चलाया। इन सब मतों में चार मत अर्थात् जो वेद विरुद्ध पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी सब मतों के मूल हैं वे क्रम से एक के पीछे दूसरा तीसरा चौथा चला है। अब इन चारों की शाखा एक सहस्र से कम नहीं है।'' (स॰प्र॰ एकादश समुल्लास की अनुभूमिका)

जैसा कि बताया गया सभी मत मतान्तरों की उत्पत्ति महाभारत युद्ध के पश्चात् हुई है। अबसे लगभग 4000 वर्ष पहले पारसी मत का प्रादुर्भाव हुआ। इस मत का प्रवर्तक जरथुस्त्र है। तथा इनका धर्मग्रन्थ जिन्दावस्था है। लगभग 3000 वर्ष पूर्व यहूदी मत का प्रारम्भ हुआ। इस मत का पैगम्बर मूसा तथा तौरेत इनका धर्मग्रन्थ है। इसके पश्चात् तीसरा ईसाई मत है जिसके प्रवर्तक ईसा (यीशु) मसीह है तथा बायबिल धर्मग्रन्थ है। इस मत का प्रादुर्भाव अब से लगभग 2000 वर्ष पूर्व हुआ। लगभग 1400 वर्ष पूर्व इस्लाम मत का प्रादुर्भाव हुआ, जिसके प्रवर्तक अन्तिम पैगम्बर हजरत मोहम्मद साहब माने जाते हैं। इनका धर्मग्रन्थ कुरान शरीफ है। इस आर्यवर्त देश में वाम मार्ग, चार वाक, जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि मत स्थापित हो गये। तत्पश्चात् सन्तों द्वारा स्थापित नानक, कबीर, दादु, दयाल आदि विविध पंथ प्रचलित हुए।

इस पुस्तक के प्रकाशनार्थ आर्थिक सहयोग देने वाले महानुभावों का आभार-प्रदर्शन

7,000 रु॰ स्त्री आर्य समाज पंजाबी बाग (प॰), नई दिल्ली

2,100 रु॰ श्री देवेन्द्र कुमार जी साहनी, 28A/43, पंजाबी बाग (प॰)

1,400 रु॰ श्रीमती मल्लिका देवी जी धर्म पत्नी स्व॰ वासुदेव लाल धवन, C-78, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली

1,400 रु॰ श्री विजय जी तलवार (अमेरिका) व ऋषि जी तलवार (लन्दन), आदर्श कुटीर, 3/5।, पं॰ बाग (प॰)

1,000 रु॰ श्रीमती कमला जी कपूर, 39/42, पं॰ बाग (प॰)

700 रु॰ श्रीमती कृष्णा जी भल्ला, 27/40, पंजाबी बाग (प॰), नई दिल्ली

700 रु॰ श्री प्रेमनाथ जी सूरी, H81/1, शिवाजी पार्क, नई दिल्ली

700 रु॰ श्री सुरेन्द्र नाथ जी लूथरा, J/1199, पालम विहार, गुडगाँव

500 रु॰ श्री पूरण चन्द जी मंगोत्रा, 130, स्टेट बैंक नगर, पश्चिम विहार, नई दिल्ली





पं॰ सत्यपाल मधुर 'धर्माचार्य'

(संक्षिप्त परिचय)

जन्म तिथि	:	31 अगस्त सन् 1942 ई॰
जन्म स्थान	:	गाँव 'शाहजुड्डी' जिला मुज़फ्फर नगर (उ॰प्र॰)
पिताजी का नाम	:	श्री लाल सिंह (दिवंगत)
माताजी का नाम	:	श्रीमती सुशीला देवी (दिवंगत)
धर्मपत्नी का नाम	:	श्रीमती रमा रानी
सन्तानें	:	तीन पुत्र
प्रेरणा स्रोत	:	श्रद्धेय गुरुवर पं॰ शोभा राम जी 'प्रेमी'
शिक्षा	:	गाँव में प्राइमरी स्कूल तक (हिन्दी) व जालन्धर (पंजाब) में रहते हुए रत्न प्रभाकर (हिन्दी) तदनन्तर दिल्ली में उत्तर मध्यमा (संस्कृत)। इसके अतिरिक्त महर्षि दयानन्द द्वारा प्रणीत ग्रन्थों एवं वैदिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, कर्मकांड सम्बन्धी साहित्य तथा विभिन्न मत-मतान्तरों का विवेचनात्मक अध्ययन।
प्रचार कार्य	:	पंजाब, हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि भारत के विभिन्न प्रान्तों में तथा दो वर्ष तक केनिया (पूर्वी अफ्रीका) में संगीत के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार। सम्प्रति आर्य समाज पंजाबी बाग (पश्चिमी) में धर्माचार्य (पौरोहित्य) के रूप में कार्यरत।
प्रकाशित रचनायें	:	मधुर गीत मंञ्जरी, मधुर गीत माला, मधुर गीत मञ्जूषा तथा प्रस्तुत यह पुस्तक 'धर्म दर्पण'(गद्य में)।
भजनों का कैसेट	:	मधुर तरंग
रुचि	:	आध्यात्मिक ग्रन्थों के स्वाध्याय की।